समर्पण

स्वर्गीय

लाल राजबहादुर सिंह

की

स्मृति में ।

दो शब्द

हिन्दी की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका 'सरस्वती' के सम्पादक श्रीयुत पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की 'पंच-पात्र' नामक पुस्तक हिन्दी-साहित्य मर्मज्ञों की सेवा में उपस्थित कर सकने का यह शुभअवसर साहित्य-भवन लिमिटेड को प्राप्त हुआ है।

'साहित्य भवन' लिमिटेड के लिए यह बड़े गौरव की बात है। बख्शी जी के सम्बन्ध में इस जगह कुछ कहना आवश्यक नहीं है, क्योंकि उनकी विद्वत्ता, उनकी रचना-कुशलता और उनकी विचार-गम्भीरता से हिन्दी संसार भली भाँति परिचित है। 'पंच-पात्र' में बख्शी जी की सरस रचनाओं के नमूने संगृहीत हैं।

पंच पात्र में, जैसा उसके नाम से ही प्रकट हो जाता है, पाँच अङ्ग हैं—पहले में गल्प, दूसरे में साहित्य, तीसरे में हिन्दी काव्य की आलोचना, चौथे में समाज-समस्या और पाँचवें में विनोद है। बख्शी जी कवि हैं और उच्च कोटि के समालोचक, साहित्य-मर्मज्ञ हैं और समाज-शास्त्र के ज्ञाता हैं। वे जिस कुशलता से साहित्यिक विषयों की विवेचना कर सकते हैं उसी कुशलता से गम्भीर विषयों पर सरस कथायें लिख सकते हैं।

'पंच पात्र' में बख्शी जी की सर्वोत्कृष्ट रचना [illegible] परिचायक एवं [illegible] विशेष रीति से, बड़ा सुन्दर आयोजन हुआ है। [illegible]

पुस्तक के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बख्शी जी भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य के अच्छे ज्ञाता हैं वहा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हमारे साहित्य में नवीन स्फूर्ति, नवीन जीवन, निर्म्मित करने की उनमें योग्यता है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि 'पद्म-पाल' के प्रचार से बख्शी जी के प्रति हिन्दी ससार में श्रद्धा की ओर भी अधिक वृद्धि होगी।

जो हिन्दी प्रेमी चाहते हैं कि हिन्दी भाषा में निरन्तर ऐसे साहित्य का निर्म्माण हो जिससे कि शीघ्र ही हिन्दी साहित्य भी ससार के समुन्नत साहित्यों में गिना जाने लगे उन्हें बख्शी जी का यह पद्म-पाल देखकर अवश्य सन्तोष होगा।

ब्रजराज
एम० ए० बी० एस० सी
एल० एल० बी
मत्री, साहित्य-भवन
लिमिटेड

प्रयाग
आश्विन कृष्ण दशमी
सवत् १९८४

पञ्च-पात्र

१—पद्य

२—साहित्य

३—हिन्दी काव्य

४—समस्या

५—विनोद



पद्य

१—पदार्पण

तमोमय था सारा संसार,
आगये कैसे करुणागार?

तड़ित करती थी उग्र विराम,
मेघ देता था भय को धाम,
प्रकृति करती थी दारुण श्याम,
जगत करता था हाहाकार,
आगये कैसे करुणागार ॥ १ ॥

नदी नालों का गर्जन घोर,
प्रबल मारुत देता झकझोर,
गगन करती नाद कठोर,
हुए सब में तुम किस पार,
आगये कैसे करुणागार ॥ २ ॥

नहीं यह गगनचुम्बी धाम,
[illegible] स्थलों में अभिराम,
कहाँ प्रभु तुम करोगे विश्राम,
किन्तु है तव शोभा का अपार,
आगये कैसे करुणागार ॥ ३ ॥

रूद्ध था कारागृह का द्वार,
हृदय मे लेकर चिन्ता भार,
वहाँ बैठा था किसी प्रकार,
जहाँ था नहीं वायु-सचार,
आगये कैसे करुणागार ॥ ४ ॥

तुम्हारा सहसा हुआ प्रवेश,
देखकर अपना कुत्सित भेप,
मुझे अब होता है अति क्लेश,
नाथ, यह तो है अत्याचार,
आगये कैसे करुणागार ॥ ५ ॥

२—निशा-काल

हुआ जीवन का सन्ध्या-काल ।
फैलने लगा तमिस्रा-जाल ॥

क्रीड़ा करती थी भूतल पर,
हुई ज्योति वह क्षीण ।
अन्त-हीन विस्तृत था सागर,
उसमें हुई विलीन ॥

जगत का बन्द हुआ व्यापार ।
किया तम ने उसका संहार ॥

भय-विह्वल हो जग ने सोचा,
अब क्या होगा हाल ।
क्षण क्षण बढ़ती ही जाती है,
यह छाया विकराल ॥

हृदय में फैला यह आतङ्क ।
नगनगर सब हो गये सशङ्क ॥

उदित निशाकर हुआ गगन में,
लोक पड़ा सत्कार ।
अपनी विमल ज्योति से उसने
किया सुधा-सञ्चार ॥

प्रभा उसकी भी थी निस्सार ।
नहीं था तारों पर उपकार ॥

उसकी शीतल छाया में ही
सब हो गया अपार ।
मन में [illegible] साधारण है
यह सब किसको [illegible] ॥

३—कृषक

राज्य उसका है यह कान्तार।
वहीं वह करता सदा विहार॥
जरा जीर्ण, वैभव विहीन
है उसका पर्ण-कुटीर।
किन्तु निरत उसकी सेवा में
रहता नित्य समीर॥

सूर्य करता उसका शृङ्गार।
करों से रञ्जित करता द्वार॥
जब मध्याह्न-काल में
रवि का होता उग्र प्रताप।
तब उसका श्रम हर लेती है
तरु-छाया निष्पाप॥

विश्व का है उस पर ही भार।
तभी अक्षय उसका भाण्डार॥
निशा काल में पृथ्वी उसको
देती अपना अङ्क।
फैलाता अनन्त नभ अञ्चल,
सोता वह निश्शङ्क॥

चन्द्र करता अमृत-सञ्चार।
शान्ति का कर देता विस्तार॥
ग्रीष्म-काल की ज्वाला हो
या जल का धारापात।

कभी शिथिल होता है उसका
क्षण भर भी क्या गात ॥

जगत का करता यह उपकार ।
जानता है क्या यह संसार ॥

कर कर्त्तव्य पूर्ण यह
जग से जाता है चुपचाप ।
मूढ़ जगत को दुख क्या होगा,
करती प्रकृति विलाप ॥

अश्रुओं का यह अक्षय हार ।
उर्मी का है अन्तिम उपहार ॥

४–सार्थकता

नीच कुल में हो जिसका जन्म,
पङ्क से हो जिसकी उत्पत्ति।
सत्य, यदि हो पङ्कज श्री-धाम,
तुम्हारी ही है इसमें शक्ति ॥ १ ॥
तुम्हीं से पाया वह अनुराग,
हुआ जिससे अतिरञ्जित पद्म।
तुम्हारे ही कर का था स्पर्श,
किया आमोदित जिसने सद्म ॥ २ ॥
तुम्हारा ही मधुमय उपहार,
हुआ है उसके अन्तर्लीन।
नहीं उसकी अपनी कुछ वस्तु,
जन्म से ही वह तो है दीन ॥ ३ ॥
उच्च पद देकर महिमा-वृद्धि,
तुम्हीं ने उसकी की है आज।
नीचपद में उसको क्या हानि,
तिरस्कृत होने में क्या लाज ॥ ४ ॥
हृदय पर जब तक उसका स्थान,
हरेगा ही वह अन्तस्ताप।
दलित होकर भी निस्सङ्कोच,
करेगा सुरभित पद चुपचाप ॥ ५ ॥
उसे आदर से होगा हर्ष,
निरादर से भी है सन्तोष।
सत्य, है उसका यही स्वभाव,
अन्य हों चाहे कितने दोष ॥ ६ ॥

५—रहस्य

अन्धकार में दीप जलाकर
किसकी खोज किया करते हो।
तुम खद्योत क्षुद्र हो, तब फिर
क्यों तुम ऐसा श्रम भरते हो॥

हाहाकार जगत करता है,
तो भी उससे क्या होता है।
पवन अहर्निशि शान्त नहीं है,
पर निश्चिन्त सदा सोता है॥

नभ में ये नक्षत्र आज तक
घूम रहे हैं उसके कारण।
उसका पता कहाँ है, किसको
होगा यह रहस्य उद्घाटन॥

हम हैं क्षुद्र, अज्ञानी हैं हम,
जग में हमको सब हँसते हैं।
पर मन में वह श्याम-रूप है
जिसकी आशा में बसते हैं॥

निराकार गुणहीन रहित पर
रहता है सर्वत्र व्याप्त कर।
सबके ही आश्रय में सब को
मिल जाती है शान्ति मनोहर॥

६–अनुरोध

प्रभो तुम कब होगे गुणवान।
निर्गुण ही तुमको कहते हैं
जग के सब विद्वान्॥

भले बुरे का ज्ञान नहीं है,
नीचों की पहचान नहीं है,
तुम में कुछ अभिमान नहीं है,
सब में एक समान॥

निराकार हो रूप छिपाते,
अन्तर्यामी होकर आते।
सम्मुख होने में भय पाते,
तुम हो नाथ महान॥

विश्वम्भर तुमको सब कहते,
लक्ष्मी पति भी बनकर रहते।
फिर दीनों से स्नेह जोड़ते,
है इसमें अपमान॥

सब की विनय यही है, प्रभुवर
अपना माया-जाल तोड़ कर
एक बार इस अवनी तल पर
आओ, हे भगवान्॥

७—बुद्धदेव के प्रति

भगवन्, यह कैसी है रीति ।
तुम हो यतिवर, कैसे हमको
होती नहीं प्रतीति ॥

कपिलवस्तु था क्षुद्र, हो गया
वह तो तुमको त्याज्य ।
किया प्रतिष्ठित अखिल विश्व में
आज अचल साम्राज्य ॥

प्रणयी जन से अन्य, छोड़ दी
तुमने उनकी प्रीति ।
जोड़ लिया सम्बन्ध जगत से
यह क्या नहीं अनीति ?

जो विरक्ति तो हुआ तुम्हारा
जग से क्यों अनुराग ?
परसेवा का मिस हो गया,
यह कैसा है त्याग ?

छूट गये तुम भव-बन्धन से
यह केवल उपहास ।
मानव हृदय हुआ बन्दीगृह,
वहीं तुम्हारा वास ॥

८–दीप-निर्वाण

किया रवि ने क्षणभर विश्राम,
चन्द्र को देकर अपना धाम।
नभो-देश मे चन्द्र-कला का
होने लगा विनोद।
उसकी हास्य प्रभा देखकर
बढा सभी का मोद॥

कुटी थी कोई शोभा-हीन,
वहाँ जलता था दीप मलीन।
थे इतने नक्षत्र गगन में,
था सब में आलोक।
किन्तु कुटी का हर सकता था
केवल दीपक शोक॥

हुआ जब निशा-काल का अन्त,
आगये नभ में नलिनी कन्त।
निष्प्रभ हुआ चन्द्रमा, लज्जित
होकर किया प्रयाण।
थी कुटीर में क्षुद्र दीप की
ज्योति शिखा म्रियमाण॥

बढाकर जीवन किसी प्रकार,
किया रवि का उसने सत्कार।
प्राणों की आहुति से उसने
किया जगत-कल्याण।
निकली एक मलिन रेखा ही,
हुआ दीप निर्वाण॥

९—अन्त

किससे प्रेरित होकर मैं
आगे ही बढ़ती जाती हूँ।
क्षण भर भी रुक कर थोड़ी भी
चैन नहीं मैं पाती हूँ॥

था अब तक उस गिरि का बन्धन,
व्याकुल रहता था मेरा मन।
यही सोचती थी मैं क्षण क्षण,
कब मैं बाहर आती हूँ॥

छोड़ चुका मुझको अब गिरिवर,
आई नीचे उछल उछल कर,
करती रहती थी मैं झर झर,
अब क्या गाना गाती हूँ॥

मन में नहीं उमंग रही अब
उठती है धीमी तरंग बस।
शिथिल हो गये आज अंग सब,
घोर निराशा पाती हूँ॥

यह कैसा उठता भीषण रव!
अब क्या होगा है मेरे रब?
यह क्या? सूखी मेरा उद्गम,
गुम मैं हो मैं जाती हूँ॥

१०–कृतघ्नता

चन्द्र हरता है
निशा की कालिमा,
हृदय की देता
उसे है लालिमा ॥

किन्तु होकर लोक-
निन्दा से अशङ्क,
निशा देती है
उसे अपना कलङ्क ॥

११–अविचार

सिन्धु रत्नाकर है,
कौस्तुभ दिया तो क्या दिया।
किंतु उसको आपने
अपना निवास बना लिया॥

पङ्क ने तो कमल जैसा
रत्न अर्पण कर दिया।
हाय, उसको आपने
इतना मलिन कैसे किया॥

१२–सूखे फूल

तुम भी हो क्या मालाकार।
मेरे इन सूखे फूलों का
लोगे क्यो उपहार॥

तुमको तो ऐसे ही फूलो
से रहता है काम।
जिनके सौरभ से उपवन में
फैल गया है नाम॥

पर इसमें भी सच जानो
कुछ है रसका आगार।
होकर सब से दलित
करेगा सुरभित पाद प्रहार॥

कोई निर्गुण होगा इनको
कर लेगा स्वीकार।
कर के स्पर्श मात्र से होगा
यह सुगन्धि-भाण्डार॥

१३—अज्ञात

कहाँ है नाथ तुम्हारा धाम।
खोज फिरा सब देख लिया,
अब मैं होगया हताश॥

मुझे व्यर्थ श्रम लेख जड़ प्रकृति
करती है उपहास।
पाया जिसका पता नहीं
वह रहता उसके पास॥

प्रातःकाल पवन लाती है
उसका कुछ सन्देश।
मूक प्रकृति को ही कह जाती
है उसका आदेश॥

क्षण भर में नव अङ्ग में हो
आता चैतन्य विकास।
वृक्षों पर विकसित फूलों का
होता हास विलास॥

हँस हँस कर जग की तरह
करता आनन्द विहार।
मन स्वर्गों के कलरव से
भर आता है संसार॥

फिर संध्याकाल में नाथ के
सब हो जाते लय।

में बैठे देखा करता हूँ
उसका कार्य समग्र ॥

आती है सन्ध्या तब उनका
फिर सजता है साज।
नक्षत्रों के साथ गगन में
आते हैं द्विजराज ॥

तब किसकी उपासना में सब
हो जाते निस्तब्ध
निश्चल होती प्रकृति,
शान्ति सबको होती उपलब्ध ॥

१४—उपालम्भ

तुम निर्गुण हो, मैं गुणहीन।
तुम हो दीनबन्धु मेरे—
भी सब बान्धव हैं दीन॥

तुम हो निराकार,
मेरा भी यदि होता आकार।
तो पट जाती पृथ्वी जगत् की,
अब तक किसी प्रकार॥

तुम अगेय, तुम्हारी कोई
नहीं जानता थान।
सच कहता हूँ नाथ,
सभी से मैं भी हूँ अनजान॥

तुम सर्वत्र व्याप्त हो,
मेरा है सर्वत्र निवास।
तुम निर्मम हो तो मेरा भी
अब हो गया विनाश॥

देख लीजिए, प्रभो, नहीं है
हम दोनों में भेद।
तुम निरपराध मैं सापराध हूँ,
है इतना ही खेद॥

१५–पाप और पुण्य

सन्ध्या हुई, नभोमण्डल में,
तम का हुआ प्रसार।
मैंने कहा, "पाप से होता,
आवृत है संसार।"

तब चन्द्रोदय हुआ, शीघ्र ही
तम हो गया विलीन।
मैंने सोचा, "नष्ट तभी तो
होते सभी मलीन।"

पर विश्वम्भर का क्या ऐसा
होता दया-विचार?
वह करता है नाश, क्या नहीं
करता वह उद्धार?

हुआ चन्द्र तब तक कुछ ऊपर,
पड़ी अचानक दृष्टि
तब मैंने देखी करुणानिधि
की अपूर्व वह सृष्टि।

ज्योतिर्मय के वक्षस्थल में
करता था तम वास।
पाप-लता में पुण्य-पुष्प का
कैसा हुआ विकास।

१६–अञ्जलि-दान

आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज।

क्षण भर में रवि हो गया अस्त,
नभ से भूमण्डल हुआ ग्रस्त,
नर मैं पूजा में हुआ व्यस्त,
सोचा अब तो होगा अकाज।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

जीवन-पथ में था अन्धकार,
मन्दिर तक जाऊँ किस प्रकार,
मैं खड़ा हुआ करता विचार,
आगया वहाँ तब जन-समाज।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

अब मन मैं तो हो गया चकित,
मेरे घर में तब हुआ स्थापित,
सब में चरणों से हुआ [illegible]।
अब तक फूल है, उसे त्याग।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

होगा क्या स्वीकार तुम्हें नाथ?
होगा क्या मुझ पर, प्रभो, रोष?
[illegible] है सब मेरा [illegible]-दोष।
पर, अब लो भरी, नाथ, लाज।
आओ अञ्जलि दूँ तुम्हें आज॥

१७–अज्ञात का सत्कार

जीवन में उसका नहीं,
हुआ नाम विख्यात।
हुआ निहत रण-भूमि में,
यह भी किसको ज्ञात॥

क्षण भर भू को रंग गया
रक्षित उसका रक्त।
और नहीं कुछ दे सका
जननी को वह भक्त॥

जग की सेवा में दिया,
उसने अपना प्राण।
पर उसको जग से नहीं,
मिला अल्प भी मान॥

होता है जिस सिन्धु में
प्रतिदिन धारापात।
क्षुद्र बिन्दु से हो कहीं
कम्पित उसका गात!

पड़ा जहाँ निरपेक्ष वह,
नाम-गोत्र से हीन।
मैंने देखा, थे वहाँ,
शीत बिन्दु दो तीन॥

प्रति दिन प्रात काल दृग—
जल का अक्षय हार।
देती जगदम्बा उसे,
यह कैसा सत्कार॥

१८—कालिदास के प्रति

तुम हो कवि-कुल-कुमुद-कलाधर।
उदित हुए साहित्य-गगन में
तुम भारत का मुख उज्ज्वल कर॥

निष्कलङ्क है ज्योति तुम्हारी,
होती जाती यह निर्मलतर।
विरह-ताप से तप्त हृदय का,
हर लेती सन्ताप निरन्तर॥

भव-सागर में तुमने अपना,
प्रतिभा जाल फैलाकर कविवर!
खींच लिये सब भाव रत्न अब,
मानव-हृदय हुआ रत्नाकर॥

चिर चिन्तित विलाप प्रेम-मधुर,
आशा और निराशा का स्वर।
तुमने ही अपनी वीणा में,
सुना दिया भारत को मन भर॥

जब भारत में मोह निशा थी,
अन्त किया तुमने तम दुस्तर।
हुआ दूर तम सारा उर का,
दीप जिला निरधार है अवसर॥

— —

१९–उलहना

कहो तो यह कैसी है रीति ?
तुम विश्वम्भर हो, ऐसी,
तो होती नहीं प्रतीति ॥

जन्म लिया वन्दीगृह में,
क्या और नहीं था धाम ?
काला तुमको कितना प्रिय है,
रखा कृष्ण ही नाम ॥

पुत्र कहाये तो ग्वाले के,
बने रहे गोपाल।
मणि मुक्ता सब छोड़,
गले में पहने क्या वनमाल ॥

चोर बने मक्खन के,
दुनिया हँसती आज तमाम।
जहाँ देखता, वहाँ तुम्हारा
टेढा ही है काम ॥

टेढा मुकुट, खड़े रहना भी
टेढा, टेढी दृष्टि।
टेढेपन की, नाथ, हुई है
तुम से जग में सृष्टि ॥

भाई भाई को लड़वाकर
किया सर्व-संहार।
"लड़ लड़" यह उपदेश तुम्हारा
किया खूब उपकार॥

अब तो कृपासिन्धु ! छोड़ो
यह अपनी टेढ़ी चाल।
देखो तो, जगती का कैसा
हुआ बुरा है हाल॥

२०—आलोक और तिमिर

नाथ, यह कैसा ज्योति प्रदान।
पल भर में ही मोह-निशा
का हुआ, हाय, अवसान॥

अन्धकार में भले-बुरे का
नहीं हुआ था ज्ञान।
अपने और पराये की
थी ज़रा नहीं पहचान॥

एक रंग में रँग कर सारा
जगत हुआ था एक।
यह निर्मल, वह मलिन,
हुआ था ऐसा किसे विवेक॥

अब तो तेरी दिव्य ज्योति से
हुई तमिस्रा नष्ट।
मुझ ऐसे नीचों को इससे
होता है अति कष्ट॥

अच्छ और बुरे का सब ही
करने लगे विचार।
अधमो से तो घृणा सर्वदा
करता है संसार॥

लौटा दो तम, मुझे ज्योति
की कभी नहीं है चाह।
भेद-भाव हो दूर, हृदय की
मिट जावे यह दाह॥

२१–अभिलाषा

यह जग ही है, अथवा लीला—
सब नटनागर का रङ्ग-स्थल।
प्रभुवर, तेरी इस माया में
हो गया मूढ़ संसार सकल॥

जब श्याम घटाओं से आवृत
हो जाता सूना नभोमण्डल।
तब ही क्षणभर में यहाँ प्रकट
हो जाती विद्युज्ज्योति चपल॥

[illegible]व सूर्य [illegible] हो जाता है
[illegible]ताराओं का [illegible]स्थल।
[illegible]ता तुरन्त है उदित नभो
उसके भीतर से अमल धवल॥

जब घोर अमावस में शशि का
मैं देख नहीं होता [illegible]।
[illegible] उस [illegible]
[illegible] अभिलाषित [illegible]॥

[illegible] जहाँ, हो [illegible]
हो [illegible] में [illegible]।
[illegible] अन्धकार में [illegible]
[illegible] प्रज्वलित [illegible]॥

२२—आगमन

सुना आगमन प्रभु का ज्योंही,
वह हो गया अधीर।
वह तो विश्वनाथ है, मेरा
है यह क्षुद्र कुटीर॥

आसन नहीं, कुटी भी मेरी
है हो गई मलीन।
आवेंगे, तब कहाँ कहूंगा,
प्रभु होवें आसीन॥

हुआ व्यग्र वह, "क्षण में कैसे,
कर दूँ इसे विशुद्ध!"
देख सके कोई मत, इससे
किया द्वार अवरुद्ध॥

बैठा वहीं अँधेरे में वह,
था चिन्ता में लीन।
"स्वागत कैसे करूँ नाथ, मैं
तो हूँ सब से हीन॥"

इतना कहा, प्रदीप जलाकर,
खड़ा हुआ वह दीन।
चौंक पड़ा, देखा तो प्रभुवर,
थे गृह में आसीन॥

२३–बिखरा फूल

खुला मन्दिर का ज्यों ही द्वार,
किया सब भक्तों ने जय घोष।
देख कर उनका हर्ष अपार,
हुआ क्या प्रभु को कुछ सन्तोष?

चढ़े सब मैंने निज उपहार,
छिप गया भक्तों में सप्राम।
भेंट किसकी होगी स्वीकार,
हँस थे तब क्या करुणा धाम?

परीक्षा थी भक्तों की आज,
और प्रस्तुत हो थे सब भार।
बढ़ चला उनका दीप्त समाज।
रहा मैं निर्बल और असार।

हुआ जल से प्रभु का अभिषेक।
और फिर फूलों का शृंगार।
भेंट तो थी अगणित प्रत्येक।
मन्दिर का नहीं तब भी द्वार।

दूर गए फूलों से भगवान,
छिप गया उनका सब ललाट।
मगर थी माँगों का कुछ ध्यान,
हुआ क्या मुझे निरुत्साह?

द्वार पर बालक था असहाय ।
बढाया उसने अपना हाथ ॥
किन्तु था कोई नहीं उपाय ।
कौन दे सकता उसका साथ ?

भीड से था वह बालक त्रस्त ।
नहीं थी कोई उसकी भूल ॥
देखने में ही था वह व्यस्त ।
गिरा, बिखरा, उसका वह फूल ॥

लालसा बालक की अज्ञात,
दलित हो गई फूल के साथ ॥
सहा दोनों ने मर्माघात ।
हुई क्या व्यथा तुम्हें कुछ नाथ ?

स्वर्ग मे पहुँचे सब उपहार ।
देव-दूतों की थी क्या भूल ?
किया प्रभु ने सब का सत्कार ।
किन्तु उर पर था बिखरा फूल ॥

२४—नाम

लिखूँ तो लिखूँ भला क्या और,
करूँ मैं क्या यश का विस्तार।
तुम्हारा लिख सकता हूँ नाम,
यही लिखता हूँ बारम्बार ॥ १ ॥

किस से होगी महिमा-वृद्धि,
यहाँ कर सकते ऐसा काम।
किन्तु हो जाता हूँ कृतकृत्य,
तुम्हारा लिख कर ही मैं नाम ॥ २ ॥

कल्पना का यह नहीं विराम,
न है यह तर्क, न तत्त्व विशेष।
तुम्हारा नाममात्र है, सत्य,
किन्तु मेरा है आश्रय शेष ॥ ३ ॥

भेद लेता हूँ मैं लिख नाम,
नहीं रहता है कुछ भी काम।
दिया तेरे ही गुन गुणगान
[illegible] कर देगा हरा मैं [illegible] ॥ ४ ॥

जिन्हें [illegible] भक्ति का है गर्व,
यहाँ [illegible] [illegible] [illegible]।
किन्तु मुझको [illegible] भी गर्व,
[illegible] आ [illegible] मैं [illegible] ॥ ५ ॥

नहीं करते तुम कभी विलम्ब,
न करते हो कुछ सोच-विचार।
जान जाते हो, कोई आज,
प्रतीक्षा करता मेरे द्वार॥ ६॥

करो तुम विज्ञों का सत्कार,
नहीं मुझको आदर की चाह।
न भूलो तुम इतनी ही बात,
कि कोई देख रहा है राह॥ ७॥

२५–अन्त

किया इन्द्रिय ने उत्पात।
समझाया मैंने, पर
उसने सुनी न मेरी बात ॥ १ ॥

मार दिया मैंने तब,
उसको मुझको आया रोष।
रोती चली गई घर भीतर,
था उसका ही दोष ॥ २ ॥

फिर सोचा, था उचित नहीं,
यों मुझको करना क्रोध।
यह तो बच्चों का स्वभाव है,
उसे कहाँ है बोध ॥ ३ ॥

यही सोच कर मुझको
होने लगा बड़ा परिताप।
काम छोड़ कर तब मैं भीतर,
चला गया चुपचाप ॥ ४ ॥

देखा, रोती थी वह लेकर,
गुड़िया अपनी साथ।
बड़े स्नेह से मैं ने प्यार कर,
फेरा अपना हाथ ॥ ५ ॥

२६—भारतवर्ष

हमारा है यह भारतवर्ष।
फैला कर निज बाहु हिमालय,
खड़ा अनादि काल से निर्भय,
करता है घोषित उसकी जय
द्वार-रक्षक है यह दुर्धर्ष।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥ १ ॥

पद-तल पर विस्तृत है सागर,
क्षण क्षण में भीषण निनाद कर,
फैलाता आतङ्क जगत पर,
किसी का साध्य नहीं आमर्ष।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥ २ ॥

फल-फूलों से हो यह सज्जित,
दिव्य प्रभा से हो अतिरञ्जित,
नन्दन-कानन को कर लज्जित,
बढ़ाता है सब का यह हर्ष।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥ ३ ॥

कर अनन्त-वैभव का सञ्चय
ज्ञानागार गुणों का आलय,
आत्मनिरत हो सच्चिदानन्द,
जगत का एक मात्र आदर्श।
हमारा है यह भारतवर्ष ॥ ४ ॥

२७—कवि-खद्योत

होते हैं नभ में प्रकट
कितने कवि-खद्योत।
नभ में होता नहीं है
सब का जीवन-स्रोत ॥

पाते हैं वे सर्वदा,
देकर अपने प्राण।
लोगों की अवहेलना,
अयश तथा अपमान ॥

किन्तु जगत का वे सदा
करते हैं कल्याण।
उनसे ही सत्काव्य का
होता है निर्माण ॥

नीरस मृत्तिका पर नहीं
करते जन दृग-पात।
सब में यह फल-पुष्पित हो
रहती है अज्ञात ॥

पर उसमें रस ग्रहण कर
होती विश्व की पुष्टि।
इस गुलाब के पुष्प से
जग की होती, तुष्टि ॥

२८—मिनी की ममता

युद्ध भूमि के चित्र पर
मैंने अपनी दृष्टि।
देकर चिन्तित भाव से
कहा—हाय यह सृष्टि!

होती आज विनष्ट है,
था किसका अभिशाप?
धीरे से आकर मिनी,
खड़ी हुई चुपचाप॥

अधरों पर थी हास्य की
रेखा बड़ी पवित्र।
मैंने उसको दे दिया
युद्ध-भूमि का चित्र॥

देखा, उसका तो बड़ा
था विचित्र ही ढंग।
शत्रु मित्र के भाव का
किया मिनी ने भंग॥

फ्रांस और इंग्लैंड पर
था जब उसका हाथ।
जर्मन देशों का दिया
सजल दृगों ने साथ॥

२९—परिणाम

जीवन की ज्वाला में मेरा
यह क्षुद्र हृदय-सर सूख गया।
मैं हुआ विकल, सोचा क्या प्रभु
की होगी मुझ पर नहीं दया?

जब सब पर करुणा-वृष्टि हुई,
तब मुझ पर भी लघु बूंद पड़ी।
गिरते ही वह झट लुप्त हुई,
तब मुझे हुई वेदना बड़ी॥

मैंने देखा, जग में बहता
था मलिन प्रेम का कुत्सित जल।
मैं करता क्या? उसमें ही अपने
किया गात्र को कुछ शीतल॥

कुछ दिन तक तो निर्भय होकर
उसमें ही सुख विलास किया।
अब ग्लानि हुई, कुछ खेद हुआ,
तब उसे हृदय से विदा किया॥

हो गया शुद्ध मन, हृदय पद्मसम
बना हुआ ही है अब तक।
मैं सोच रहा हूं, कमलों का
होगा विकास उसमें कब तक?

२८–मिनी की ममता

युद्ध भूमि के चित्र पर
मैंने अपनी दृष्टि।
देकर चिन्तित भाव से
कहा—हाय यह सृष्टि !

होती आज विनष्ट है,
था किसका अभिशाप ?
धीरे से आकर मिनी,
खड़ी हुई चुपचाप ॥

अधरों पर थी हास्य की
रेखा बड़ी पवित्र।
मैंने उसको दे दिया
युद्ध भूमि का चित्र ॥

देखा, उसका तो बड़ा
था विचित्र ही ढग।
शत्रु मित्र के भाव का
किया मिनी ने भग ॥

फ्रास और इंग्लैंड पर
था जब उसका हाथ।
जर्मन देशों का दिया
[illegible] दृगों ने साथ ॥

२९–परिणाम

जीवन की ज्वाला से मेरा
यह क्षुद्र हृदय-सर सूख गया।
मैं हुआ विकल, सोचा क्या प्रभु
की होगी मुझ पर नहीं दया?

जब सब पर करुणा-वृष्टि हुई,
तब मुझ पर भी लघु बूंद पड़ी।
गिरते ही वह झट लुप्त हुई,
तब मुझे हुई वेदना बड़ी॥

मैंने देखा, जग में बहता
था मलिन प्रेम का कुत्सित जल।
मैं करता क्या? उससे ही अपने
किया गात्र को कुछ शीतल॥

कुछ दिन तक तो निर्भय होकर
उसमें ही खूब विलास किया।
जब ग्लानि हुई, कुछ खेद हुआ,
तब उसे हृदय में छिपा लिया॥

हो गया शुद्ध तनु, हृदय पङ्कमय
बना हुआ ही है अब तक।
मैं सोच रहा हूँ, कमलों का
होगा विकास उसमें कब तक?

३०—क्षुद्र का महत्त्व

क्षुद्र हूँ, मैं मानता हूँ, क्षुद्र हूँ ।
पर इसी से, नाथ, तुम तो हो बड़े ॥
गिर पड़ा हूँ, आज जो गिरता नहीं ।
कौन कहता तब भला तुम हो खड़े ॥ १ ॥

जानता हूँ, तुम बड़े निर्दोष हो ।
दुष्ट हैं हम, तब तुम्हारा नाम है ॥
यदि कभी जग में जग भी तम न हो ।
तो भला इस ज्योति का क्या काम है ॥ २ ॥

गर्व है क्या दान देने का तुम्हें ?
दान है वह, नाथ, देते हो जभी ॥
फूल जो देता वही तो गन्ध है ।
रख लिया तो गन्ध वह होगा कभी ॥ ३ ॥

विश्वपति हो, विश्व है जब तक यहाँ ।
कौन सा उपकार तुमने कर दिया ॥
तोड़ कर भव-जाल को भी देख लो ।
कौन सा अपकार तुमने कर लिया ॥ ४ ॥

३१-ताजमहल

मूर्ति भव्य है किन्तु हृदय
तो है केवल पाषाण।
अश्रुजलों से हो सकता
है क्या इसका निर्माण?

मैंने सोचा, शाहजहाँ का
यह कैसा प्रतिदान।
इस उज्ज्वल कठोरता से
क्या हुआ प्रेम का मान?

ज्योंही यमुना जी पर मेरी
पड़ी अचानक दृष्टि।
समझ गया मैं, प्रेमभाव
की होती कैसे सृष्टि॥

ताप-पुञ्ज में रवितनया
यह जैसे हुई प्रसूत।
गिरि के वज्र-हृदय से
होती वारि-राशि उद्भूत॥

है नैराश्य, विषाद, प्रेम
का, ताजमहल, तू धाम।
तुझ में ही कर सकता है
वह प्रेम-पुञ्ज विश्राम॥

साहित्य

१—आख्यायिका-रहस्य

आज-कल साहित्य में कुछ ऐसे समालोचक पैदा हो गये हैं जो सर्वत्र सदाचार की शिक्षा ही ढूंढा करते हैं। उनकी समझ में साहित्य की सृष्टि मनुष्यों को सिर्फ 'कु' और 'सु' की शिक्षा देने के लिए हुई है। काव्य, नाटक, उपन्यास और आख्या यिका, सभी में वे धर्म का उपदेश चाहते हैं। एक जर्मन समा लोचक ने यह साहस-पूर्वक कहा था कि शेक्सपीयर ने सांसा रिक वभव की अस्थिरता दिखाने ही के लिए "एज यू लाइक इट" (As you like it) नामक नाटक की रचना की है। उसमें शेक्सपीयर ने वन्य-जीवन का जो कल्पना प्रसूत आदर्श और मनोहर दृश्य अङ्कित किया है वह सन्यास-धर्म की शिक्षा का हेतु बन गया! एक बार किसी महिला ने रवीन्द्रनाथ से पूछा कि आपने अमुक कहानी किस मतलब से लिखी है, आपका उद्देश क्या था? उत्तर में रवीन्द्रबाबू ने कहा —"कहानी लिखने का उद्देश कहानी लिखना है। मैं कहानी इसीलिए लिखता

हूँ, क्योंकि कहानी लिखने की मेरी इच्छा होती है। किसी मतलब से कहानी नहीं लिखी जाती। यह सच है कि आख्यायिका लेखक पर काल का प्रभाव पड़ता है। पर काल और समाज का प्रभाव उतना ही रहता है जितने से उसका कला कौशल प्रस्फुटित हो। मनुष्यों के हृदय में काल बहुवर्ण-रञ्जित सूत्रों का जाल बनाता है और उसकी उद्भावना साहित्य-जगत् में होती है। आज-कल देश की जैसी दशा है वह लेखक के हृदय में अङ्कित हो गई है। उसका फल हमें उसकी कृति में मिलता है। साहित्य विज्ञान नहीं है और न वह धर्मशास्त्र है। यदि उसमें कुछ निर्धारित नियमों के अनुसार ही पात्रों के चरित्र अङ्कित किये जाँय तो वह चित्र प्राण-हीन होगा। यह सम्भव है कि वह नेत्ररञ्जक हो। पर उसमें हम जीवित संसार का आदर्श न देख सकेंगे। यदि कोई नियम निर्धारित किया जाय तो वह मानव-स्वभाव के अनुकूल हो—कठोर और स्थिर नहीं, वह हो मृदु और परिवर्तनशील।" यहाँ उदाहरण के लिए रवीन्द्रनाथ, मोपासां, गोर्की, वेल्स आदि की कुछ कहानियाँ दी जाती हैं जिनमें मानव जीवन के चिरन्तन भावों का प्रदर्शन किया गया है।

१—उपक्रम

ज्यों ही बालक का कण्ठ फूटा त्यों ही उसने कहा—कहानी कहो।

दादी ने कहना शुरू किया—एक राजपुत्र था, उसके चार मित्र थे, एक मन्त्री का लड़का, दूसरा सौदागर का लड़का, तीसरा—इसी समय गुरु जी ने चिल्ला कर कहा—तीन चौके बारह।

परन्तु गुरु जी का हुङ्कार कहानी के राक्षस के हुङ्कार के आगे दब गया। वह लड़के के कानों तक पहुँचा नहीं। जो बालक के शुभचिन्तक थे उन्होंने उसको एक कमरे में बन्द कर बड़े गम्भीर स्वर से कहा—देखो तीन चौके बारह, यह तो सत्य है और राजपुत्र या मन्त्री-पुत्र की बात बिलकुल झूठी है। इसलिए—

उस समय बालक का मन मानस चित्र के उस समुद्र को पार कर रहा था जिसका पता किसी नक्शे में नहीं लग सकता। तीन चौके बारह उसके पीछे पीछे दौड़ता रहता है, परन्तु मृगजल की तरह उससे पानी नहीं निकलता।

शुभचिन्तकों ने समझ लिया कि लड़का पूरा बदमाश है। बेत की चोट से ही वह सुधर सकता है।

इधर गुरु जी का रूख देख कर दादी चुप हो गई। पर विपत्ति का अन्त योंही नहीं हो जाता। एक जाती है तो उसकी जगह दूसरी आती है। दादी के चुप हो जाने के बाद पौराणिक जी ने आकर आसन जमाया और उन्होंने राम-बनवास की कहानी शुरू कर दी।

जब सूर्पनखा की नाक काटी जा रही थी तब शुभचिन्तकों ने आकर कहा—इतिहास में इसका कोई प्रमाण नहीं है। जो बात प्रमाणित हो सकती है वह है तीन चौके बारह।

उस समय हनूमान आकाश में इतने ऊँचे उड़ रहे थे कि इतिहास उनका पल्ला नहीं पकड़ सकता था। पाठशाला के बाद स्कूल में और स्कूल के बाद कालेज में लड़के के मानसिक सुधार की योजना होने लगी। परन्तु चाहे कुछ भी किया जाय यह बात मिट नहीं सकती कि कहानी की स्पृहा ही न रहे।

यह बिलकुल स्पष्ट है कि केवल शैशव काल में ही नहीं, सभी अवस्थाओं में मनुष्य की पुष्टि कथा से होती है। इसी से पृथ्वी पर मनुष्य के घर घर में, मुख मुख में, ग्रन्थ ग्रन्थ में जो जमा होता है वह मनुष्य के सभी सञ्चयों से बढ़ जाता है।

शुभचिन्तक यह बात भूल कर भी नहीं सोचते कि कहानी का नशा ही विधाता का सब से अन्तिम नशा है। जब तक उसका सुधार नहीं किया जायगा तब तक मनुष्य के सुधार की आशा नहीं है।

एक दिन विधाता अपने कारखाने में अग्नि से जल और जल से मिट्टी गढ़ने लगे। उस समय सृष्टि वाष्पभार से व्याकुल थी। धातुओं और पत्थरों के पिण्ड क्रमश गूँथे जा रहे थे। उनमें मसाला छोड़ा जाता था और वे दमादम पीटे जाते थे। उस दिन विधाता को देखने से यह बात किसी तरह ध्यान में नहीं आ सकती थी कि इनमें कहीं भी मनुष्य हैं। उस समय का कारखाना कहा जाता है सारवान्।

इसके बाद प्रारम्भ हुई प्राण की सृष्टि। घास उगी, पेड़ बढ़े, पशु दौड़े और पक्षी उड़े। कोई मिट्टी के बन्धन से आकाश में अञ्जलि देने के लिए खड़ा हुआ। कोई स्वतन्त्र हो अपने को

पृथ्वी पर विस्तृत करने के लिए चला। कोई जल की यवनिका पर चुपचाप नृत्य करता हुआ पृथ्वी की प्रदक्षिणा में ही व्यस्त हुआ। कोई आकाश में पर फैला कर सूर्यालोक के वेदीतल में सङ्गीत की अर्घ्य-रचना के लिए उत्सुक हुआ। इसी समय से विधाता के मन में हलचल शुरू हुई।

इस तरह कितने युग व्यतीत हुए। हठात् एक दिन विधाता के मन में कोई विचार उठा और उसने अपने कारखाने में उन खास पवनों को तलब किया। उन सब को लेकर उन्होंने मनुष्य की रचना की। इतने दिनों के बाद कथा की बारी आई। इतना समय विज्ञान और शिल्प में कटा, अब साहित्य शुरू हुआ।

मनुष्य को उन्होंने कहानियों में ही व्यक्त किया। पशु पक्षी का जीवन है आहार, निद्रा और सन्तान-पालन। मनुष्य का जीवन है कथा। कितनी वेदना, कितनी घटनायें, सुख दुःख, सयोग वियोग, अच्छे बुरे के कितने घात प्रतिघात होते हैं। इच्छा के साथ इच्छा का, एक के साथ दूसरे का, साधना के साथ स्वभाव का, कामना के साथ घटना का सङ्घर्षण होने से कितना आवर्तन होता है। जिस प्रकार नदी जल की धारा है उसी प्रकार मनुष्य कथा का प्रवाह है। इसी से हम एक दूसरे से पूछते रहते हैं—क्या हाल है, क्या खबर है, इसके बाद क्या हुआ। इसी 'इसके बाद' से मनुष्य की व्यथा गूँथी हुई है। उसी को हम जीवन की कहानी कहते हैं। उसी को हम मनुष्य का इतिहास कहते हैं।

विधाता-रचित इतिहास और मनुष्य-रचित कहानी, इन्हीं दो से मनुष्य का ससार है। मनुष्य के पक्ष में केवल अशोक या अकबर की कथा ही सत्य नहीं है। जो राजपुत्र सात समुद्रों को पार कर सात राज्यों का धन खोजने के लिए निकला है वह

भी सत्य है। हनूमान के वीरत्व की कथा भी सत्य है। उनके गन्धमादन को उखाड़ कर ले आने की बात पर कोई सन्देह नहीं हो सकता। मनुष्य के लिए औरङ्गजेब उतना ही सत्य है जितना दुर्योधन। किसके लिए अधिक प्रमाण है और किसके लिए कम, इस दृष्टि से इस सत्य की परीक्षा नहीं हो सकती। देखना यही है कि कहानी की दृष्टि से वह असल है या नहीं। उसके लिए यही सब से बढ कर सत्य है।

२-परी का परिचय

(१)

जब राजपुत्र की अवस्था बीस वर्ष की होगई तब भिन्न भिन्न देशों से विवाह के प्रस्ताव आने लगे। ज्योतिषीजी ने कहा—वाह्लीक देश की राजकन्या बड़ी सुन्दरी है, मानो गुलाब का फूल हो। राजपुत्र ने मुँह फेर लिया, जवाब कुछ नहीं दिया।

दूत ने आकर कहा—गान्धार की राजकन्या के अङ्ग अङ्ग से लावण्य फूटा पडता है, मानो अंगूर की लता से अंगूर टपके पड़ते हों। राजपुत्र उसी दिन शिकार खेलने के लिए चला गया, कई दिन बीत गये, पर वह लौटा ही नहीं।

फिर एक दूत ने आकर कहा—काम्बोज की राजकन्या को देख आया हूँ। प्रातःकालीन क्षितिज के समान उसके नेत्र पल्लव शिशिर से भी स्निग्ध और प्रकाश से भी उज्ज्वल हैं। राजपुत्र भर्तृहरि का काव्य पढने लगा, पुस्तक पर से उसने अपनी आँख नहीं उठाई।

राजा ने कहा—यह क्या बात है ? मन्त्री-पुत्र को तो बुलाओ।

मन्त्री-पुत्र के आने पर राजा ने पूछा—तुम तो हमारे लड़के के मित्र हो। बतलाओ, उसको विवाह से इतनी विरक्ति क्यों है ?

मन्त्री-पुत्र ने उत्तर दिया—महाराज, जब से आपके पुत्र ने परिस्तान की कहानी सुनी है तब से उन्होंने यही निश्चय किया है कि विवाह करेंगे तो परी से ही।

(२)

राजा ने आज्ञा दी कि परिस्तान का पता लगाया जाय। बड़े बड़े पण्डित बुलाये गये। उन्होंने बड़ी बड़ी किताबें उलट-पुलट कर देख डालीं, पर सभी ने कहा कि पुस्तकों में तो परिस्तान का कहीं इशारा तक नहीं है। तब बड़े बड़े सौदागर बुलाये गये। उन्होंने कहा—समुद्र पार कर हम कितने ही द्वीप देख आये हैं, पर परिस्तान का पता हमने कहीं नहीं पाया। तब राजा ने आज्ञा दी—मन्त्री पुत्र को बुलाओ। मन्त्री-पुत्र के आने पर राजा ने उससे पूछा—परिस्तान की कहानी राजपुत्र ने किससे सुनी है।

मन्त्री-पुत्र ने कहा—नवीन नाम का एक पागल है। वह हाथ में बंशी लिये जङ्गल जङ्गल भ्रमता फिरता है। उसी से राजपुत्र ने परिस्तान की कहानी सुनी है।

राजा ने कहा—अच्छा, उसी को बुलाओ।

नवीन पागल राजा को भेंट देने के लिए मुट्ठी भर जङ्गली फूल लेकर सामने आया। राजा ने उससे पूछा—तुम परिस्तान का हाल जानते हो ?

वह बोला—वहाँ तो मैं रोज आता जाता हूँ।

राजा—वह है कहाँ ?

पागल—यहीं, आपके राज्य मे, चित्रगिरि पहाड़ के नीचे, काम्यक सरोवर के किनारे।

राजा—वहाँ परियाँ दिखाई देती हैं ?

पागल—देखाई तो देती हैं, पर उन्हें पहचानना बड़ा कठिन है, क्योंकि वे सब छद्म-वेश मे रहती हैं। कभी कभी तो जब वे चली जाती हैं तब वे अपना परिचय देती हैं और तब उन्हें कोई पा नहीं सकता।

राजा—तब तुम उन्हें कैसे पहचान लेते हो ?

पागल—कभी एक स्वर सुन कर ओर कभी एक प्रकाश देख कर।

राजा ने विरक्त होकर कहा—ये सब पागलपन की बातें हैं, निकालो इसको।

(३)

पर पागल की बात राजपुत्र के मन में जम गई। फागुन के महीने में जब वृक्षों की शाखायें फूलों से लद गईं आर जङ्गल फूलों से भर गया तब राजपुत्र अकेला ही चित्रगिरि पहाड़ की ओर चल पड़ा। लोगों ने पूछा—आप कहाँ जा रहे हैं ? पर उसने किसी को कुछ उत्तर नहीं दिया।

गुफा के भीतर से एक झरना झरता था, जो काम्यक सरोवर में आकर मिल जाता था। लोगो ने उसका नाम रक्खा था—उद्दाम निर्झरिणी। उसी झरने के किनारे एक टूटे-फूटे मन्दिर में राजपुत्र रहने लगा।

एक महीना बीत गया। शाखाओं में जो नये पत्ते निकले थे उनका रङ्ग गहरा होगया ओर गिरे हुए फूलों से जङ्गल का रास्ता ढक गया। इसी समय एक दिन, प्रात काल, स्वप्न में

राजपुत्र ने एक वंशी का स्वर सुना। उठ कर राजपुत्र ने कहा—आज मैं अवश्य परी को देख लूँगा।

(४)

घोड़े पर चढ़ कर राजपुत्र उसी के किनारे किनारे रवाना हुआ और काम्यक सरोवर के तट पर पहुँच गया। वहाँ उसने देखा कि एक पहाड़ी लड़की पद्मवन के किनारे बैठी हुई है। जल से उसका घड़ा भरा हुआ है, पर वह घाट से उठती नहीं। उस काली लड़की ने अपने कान के ऊपर काले बालों में एक शिरीष का फूल खोंस रक्खा है मानो गोधूलि में तारा।

राजपुत्र ने घोड़े से झुक कर उससे कहा—तुम अपने कान के शिरीष फूल को मुझे दोगी?

जो हरिणी भय नहीं जानती, जान पड़ता है, वह वही हरिणी थी। उसने गर्दन टेढ़ी कर एक बार राजपुत्र की ओ देखा। उसी समय उसकी काली आँखों के ऊपर किसी की छाय आकर पड़ गई, जिससे उनकी श्यामता बढ़ गई, मानो निद्रा ऊपर स्वप्न का सञ्चार हुआ अथवा आकाश पर श्रावण का।

लड़की ने कान से फूल निकाल कर राजपुत्र के हाथ देकर कहा—लो।

राजपुत्र ने उससे पूछा—सच बतलाओ, तुम कौन परी

यह प्रश्न सुन कर पहले उस लड़की के मुख पर विस्मय भाव आया, फिर आश्विन के मेघ की चमक और वृष्टि की वह खिलखिला कर हँसने लगी। उसकी यह हँसी रुक नहीं थी।

राजपुत्र ने मन ही मन कहा—स्वप्न सफल हुआ। इस स्वर से वंशी के स्वर का मेल है। फिर उसने अप हाथ बढ़ा कर कहा—आओ।

लड़की उसका हाथ थाम कर घोड़े पर चढ़ गई।

उसने कुछ विचार नहीं किया। घाट पर उसका घड़ा पड़ा ही रहा। उसी समय शिरीष की शाखा से कोकिला बोल उठी—कुऊ कू।

राजपुत्र ने उस लड़की से पूछा—तुम्हारा नाम क्या है?

लड़की ने कहा—कजली।

दोनों उदास-निर्झरिणी के किनारे उस टूटे-फूटे मन्दिर में पहुँच गये।

राजपुत्र ने कहा—अब अपना यह छद्म-वश फेंक दो।

कजली ने कहा—हम तो जङ्गली लड़की हैं, छद्म-वश नहीं जानती।

राजपुत्र बोला—तब तुम अपना परी का रूप दिखलाओ।

परी का रूप! यह सुनते ही लड़की फिर हँसने लगी। राजपुत्र सोचने लगे—इस हँसी के स्वर से झरने का स्वर मेल खाता है। इसलिए यह झरने की परी है।

(५)

इधर राजा के पास खबर पहुँची कि राजपुत्र ने परी से विवाह किया है। तब राजभवन से घोड़ा, हाथी और पालकी आई।

कजली ने पूछा—यह क्या है।

राजपुत्र बोले—तुम्हें अब राजभवन चलना पड़ेगा।

तब कजली की आँखें डबडबा आईं, वह सोचने लगी—उसके घर के आँगन में सूखने के लिए जो बीज फैलाये गये थे वे वैसे ही पड़े हैं। उनके बाप और भाई शिकार के लिए जङ्गल गये थे, उनके भी लौटने का अब समय है। इसके बाद उसे

स्मरण आया कि उसकी मा उसे विवाह के अवसर पर देने के लिए कपडा बुन रही है।

लड़की ने कहा—मै नहीं जाऊँगी।

पर ढोल और दमामे बजने लगे। बाजे की आवाज में उसकी बात किसी ने नहीं सुनी।

जब कजली की पालकी राजद्वार पर पहुँची और कजली नीचे उतरी तब महारानी ने कपाल पर हाथ मार कर कहा—यह कैसी परी है।

राजकन्यायें कहने लगीं—छि छि—यह कैसी लज्जा की बात है।

दासियों ने कहा—परी का वेश भी कैसा है।

राजपुत्र ने कहा—चुप रहो, परी तुम्हारे घर में छद्मवेश में आई है।

(६)

दिन पर दिन जाने लगे। चाँदनी रात में राजपुत्र जाग कर कजली की ओर देखते कि कहीं उसका छद्म-वेश थोड़ा भी हट है या नहीं, पर कजली की देह काले पत्थर पर खुदी हुई प्रतिम की तरह दीख पड़ती। राजपुत्र चुपचाप बैठे बैठे सोचते—प रात्रि के अन्धकार में उषा की तरह तुम कहाँ छिपी हुई हो।

राजपुत्र को अब अपने घर के लोगों से लज्जा मालूम ह लगी। एक दिन कुछ क्रोध भी हुआ। प्रात काल जब क बिछौने से उठ कर जाने लगी तब राजपुत्र ने उसका हाथ प कर कहा—आज मैं तुम्हें नहीं छोड़ूगा। अब तुम अपना दिखलाओ।

पहले यह बात सुनते ही कजली की हँसी नहीं रुकती परन्तु आज उसकी आँखों में आँसू भर आये।

राजपुत्र ने कहा—तुम क्या हमें सदैव भ्रम में ही रक्खोगी ?

कजली—अब नहीं रक्खूँगी ।

राजपुत्र—अच्छा तो इस शरद् पूर्णिमा में सब लोग तुम्हें परी के रूप में देखें ।

(७)

पूर्णिमा का चन्द्रमा आकाश पर क्रीड़ा कर रहा था । राज भवन में नौवत बज रही थी । राजपुत्र ने वर के वेश में शयन गृह में प्रवेश किया । परी से उनकी 'शुभ-दृष्टि' होगी ।

शयन-गृह में बिछौने पर सफेद चादर बिछी थी, उस पर कुन्द के श्वेत फूल बिखरे पड़े थे । चन्द्रमा की उज्ज्वल ज्योत्स्ना से गृह आलोकित हो रहा था । पर कजली कहाँ थी ? तीन प्रहर बीत गये । परन्तु परी कहाँ है ? राजपुत्र ने मन ही मन कहा—कभी कभी जब परी चली जाती है तब अपना परिचय देती है और तब उसे कोई पा नहीं सकता ।

३—राजपुत्र

(१)

राजपुत्र चला जा रहा है । अपना राज्य छोड़ कर, सात राजाओं का राज्य पार कर उस में, जहाँ किसी राजा का राज्य नहीं, राजपुत्र चला जा रहा है ।

यह उस काल की कथा है जिसका न आदि है और न अन्त ।

शहर और गाँव में और सभी लोग हाट-बाजार जाते हैं, घर का काम-काज देखते हैं, लड़ाई-झगड़े में लगे रहते हैं । पर जो

हमारा चिरकाल का राजपुत्र है वह केवल राज्य छोड़ कर चला जाता है।

क्यों जाता है ?

कुएँ का जल कुएँ में ही बना रहता है, तालाब का जल तालाब में शान्त रहता है। पहाड़ का जल पहाड़ में अवरुद्ध नहीं रहता, मेघ का जल मेघ में ही रुका नहीं रहता। राजपुत्र को उसके राज्य में कोई रोक कर नहीं रख सकता। वह तो अज्ञात देश की खोज में निकलता है और बिना उसे देखे वह लौटने का नहीं। सात समुद्र और तेरह नदियों को पार कर उसे जाना ही होगा।

मनुष्य बारम्बार शिशु होकर जन्म लेता है और बारबार इसी पुरानी कहानी को नई बना कर सुनता है। सन्ध्या प्रदीप के स्थिर प्रकाश में लड़के चुपचाप गाल पर हाथ रक्खे सोचते हैं—हमीं वह राजपुत्र हैं।

जहाँ वह अज्ञात देश समाप्त हुआ वहीं सामने समुद्र है। उसके बीच बीच द्वीप है और उस द्वीप में दैत्यपुरी है, जहाँ राज कन्या बन्दिनी है।

पृथ्वी पर कोई धन चाहता है, कोई नाम चाहता है और कोई आराम खोजता है। पर हमारा राजपुत्र उस दैत्यपुरी से राजकन्या का उद्धार करना चाहता है। तूफान उठ रहा है, नाव का पता नहीं। फिर भी राजपुत्र पथ ढूँढ रहा है।

यही मनुष्य की आदि कथा है, और सब अन्त की। पृथ्वी पर जिनका नवीन जन्म होता है व अपनी दादी से इसी चिरन्तन कथा का हाल सुनना चाहते हैं कि राजकन्या बन्दिनी है, समुद्र दुर्गम है, दैत्य दुर्जय है और बेचारा राजपुत्र अकेला प्रण करता है कि मैं राजकन्या को कैद से छुड़ा लाऊँगा।

वाहर अन्धकारमय वन में वृष्टि हो रही है। झींगुर शब्द कर रहे हैं और लड़के गाल पर हाथ दिये सोचते हैं—हमें दैत्यपुरी से राजकन्या को लाना होगा।

(२)

सामने असीम समुद्र आया, स्वप्न की लहरों से युक्त निद्रा के समान। वहीं राजपुत्र घोड़े से नीचे उतर पड़ा।

किन्तु जमीन पर पर रखते ही यह क्या हुआ ? किस जादूगर का यह जादू है ?

यह तो शहर है। ट्राम दौड़ रही है। आफ़िस की ओर जाने वाली गाड़ियों की भीड़ से रास्ता दुर्गम है। एक किनारे ताड़-पत्ते की वंशी बनानेवाला लड़कों को आकृष्ट करने के लिए वंशी बजाता हुआ चला जा रहा है।

और राजपुत्र का यह कैसा वश है, यह कैसी चाल है। शरीर पर सादा कुरता, धोती भी ग्वूब माफ नहीं। पैरों में पुराना जूता। वह गाँव का लड़का है, शहर में पढ़ता है, ट्यूशन करके अपना खर्च चलाता है।

राजकन्या कहाँ है ?

उसी क घर के पास एक घर में।

चम्पे के फूल की तरह उसका रङ्ग नहीं है और न उसके हँसने से मोती झरते हैं। आकाश के तारा क साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती। नवीन वर्षा का आगमन होने पर घास की आड़ में नाम-हीन जो फूल खिला रहता है उसी के साथ उसकी तुलना हो सकती है।

मातृ-हीना होने पर वह बाप का आदर पाती थी। बाप था गरीव, पर अपात्र के साथ लड़की का विवाह भी नहीं करना

चाहता था। इसी तरह लड़की की उम्र बढ़ने लगी। सब लोग निन्दा करने लगे।

बाप भी मर गया। तब लड़की अपने काका के घर आई।

पात्र की खोज हुई। वर का जैसा अधिक धन था वैसी ही अधिक आयु थी। उसके पोते पोतियों की संख्या कम नहीं थी। उसी तरह उसका रोब-दाब भी कम नहीं थीं।

काका ने कहा—लड़की का बड़ा भाग्य है।

पर हल्दी चढ़ने के दिन लड़की का पता नहीं चला और पास के घर के लड़के का भी।

फिर खबर मिली कि दोनों ने छिप कर विवाह कर लिया है। उन दोनों में जाति का भेद रहने पर भी मन का मेल था। सब ने निन्दा की।

लक्षाधीश ने अपने इष्ट देवता को सोने का सिंहासन देने की प्रतिज्ञा कर कहा—देखूँ, कौन इस लड़के को बचा सकता है।

लड़के को अदालत में खड़ा कर विचक्षण वकीलों ने साक्षी देवता की कृपा से दिन को भी रात सिद्ध कर दिया। कितने आश्चर्य की बात है !

उसी दिन इष्ट-देवता के सामने दो बकरों का बलिदान हुआ, ढोल-दमामे बजे। सभी प्रसन्न हुए—कहने लगे, कलिकाल तो है, परन्तु अभी धर्म उठ नहीं गया है।

(३)

इसके बाद—अनेक बातें हैं। जेल से लड़का लौट आया। परन्तु दीर्घपथ का अन्त नहीं हुआ। अज्ञान देश के पथ से भी वह अधिक दीर्घ और निर्जन था। कितने ही बार अन्धकार में उसने मनुष्य-गन्ध की खोज में लगे हुए पिशाच का चीत्कार सुना। मनुष्य को खाने के लिए इतना लोभ !

रास्ते का अन्त न हो, पर चलने का तो अन्त होता ही है। एक दिन उसे भी रुकना पड़ा।

उस दिन उसको देखनेवाला कोई नहीं था। सिरहाने पर एक दयामय देव खड़ा था। वह था यम।

यम ने ज्यों ही सोने की छड़ी से उसे छुआ त्यों ही यह क्या हो गया—शहर चला गया और स्वप्न भी टूट गया।

इसके बाद घड़ी भर में फिर वह राजपुत्र दिखलाई पड़ा। उसके कपाल पर असीमकाल की राजटीका थी। वह दैत्यपुरी के द्वार को तोड़ेगा और राजकन्या को बन्धन मुक्त करेगा।

युग युग में बच्चे अपनी माँ की गोद पर बैठे हुए यही कथा सुनते हैं कि घर छोड़ कर वह मनुष्य अज्ञात देश को चला जा रहा है। उसके सामने सात समुद्रों की तरङ्गें गर्जन कर रही हैं।

इतिहास में उसके भिन्न भिन्न रूप हैं, परन्तु इतिहास के उस पार उसका एक ही रूप है। वह है राजपुत्र।

४—सिद्धि

(१)

स्वर्ग की अधिकारप्राप्ति में मनुष्य को किसी प्रकार की बाधा न हो, यही उसका प्रण था। इसी से उसने बड़ी खोज से अमर होने का मन्त्र सीखा था। अब वह अकेला जङ्गल में उस मन्त्र की साधना में लगा है।

वन के एक कोने में लकड़ी बेचनेवाली एक लड़की थी। वह तपस्वी के लिए आँचल में भर कर फल और पत्ते के दोने में पानी ले आती थी।

क्रमशः तपस्या इतनी कठोर हो गई कि वह फल को छूता तक नहीं था। पक्षी आकर उसे खा जाते थे। कुछ दिन और बीते। तब उसने पानी पीना भी छोड़ दिया। झरने का जल दोने में ही सूख जाता था, उसके ओठ तक नहीं पहुँचता था।

लड़की सोचने लगी—अब क्या करूँ? मेरी तो सेवा ही व्यर्थ हो रही है।

इसके बाद वह फल तोड़ कर तपस्वी के पैरों पर रख जाती थी। पर तपस्वी को इसका कभी अनुभव नहीं हुआ। दोपहर में जब धूप हो जाती थी तब वह आँचल फैला कर उस पर छाया करती। पर तपस्वी के लिए क्या धूप और क्या छाया। कृष्णपक्ष में जब रात खूब अँधेरी हो जाती थी तब वह जागती खड़ी रहती। तपस्वी के लिए भय का कोई कारण नहीं था, तो भी वह पहरा देती।

(२)

एक दिन ऐसा भी आया जब तपस्वी ने बड़े स्नेह से लड़की से पूछा—तुम अच्छी तो हो? लड़की बोली—मेरे लिए अच्छा क्या और बुरा क्या। पर तुम्हारी देखरेख करनेवाली क्या माँ, बहन, कोई नहीं है?

तपस्वी ने कहा—हैं तो सब, पर क्या वे सदा मेरी देख-रेख कर सकते हैं? क्या वे सदा मुझे बचा सकेंगे?

लड़की बोली—प्राण चिरकाल [illegible] क्यों प्राण के लिए इतनी व्याकुलता [illegible] नहीं रहने, तभी तो [illegible] रगा।

तपस्वी ने कहा—मैं तो [illegible] काल तक बचा रहूँ। मैं मनुष्य को [illegible] पथ जिसमें [illegible]

यह कह कर तपस्वी ने [illegible] गा। [illegible] व

मानो अपने ही को कहीं। [illegible] बातें कहीं [illegible]

लड़की ने कुछ समझा नहीं, पर आकाश में नवीन मेघ का शब्द सुन कर मयूरी का हृदय जैसे व्याकुल हो जाता है वही दशा उसके मन की हुई।

कुछ दिनों के बाद तपस्वी ने मौन व्रत धारण किया। वह लड़की से बोलता तक नहीं था। कुछ दिन और बीत जाने पर उसकी आँखें भी बन्द होगईं। वह अब लड़की को देखता भी नहीं था।

लड़की अपने मन में अनुभव करने लगी कि वह तपस्वी से तपस्या के सैकड़ों कोसों की दूरी पर है। हज़ारों वर्षों में भी इस विच्छेद को पार कर पास पहुँच जाने की आशा नहीं थी।

तब तो कोई आशा नहीं रही। फिर भी वह व्यथित होती, सोचती—यदि दिन में एक बार भी वे बोलते कि तुम कैसी हो तो उसी से मैं दिन काट लेती। यदि एक बार भी वे फल और पानी ग्रहण कर लेते तो मुझे भी अन्न जल रुचता।

(३)

इधर इन्द्रलोक में खबर पहुँची कि मनुष्य मर्त्यलोक का उल्लङ्घन कर स्वर्ग पाने की इच्छा करता है। उसकी इतनी स्पर्धा होगई है।

इन्द्र ने ऊपर से तो खूब क्रोध प्रकट किया, पर मन ही मन वह डरने लगा। सोचा, दैत्य स्वर्ग विजय करना चाहते थे अपने बाहु-बल से। उनके साथ लड़ाई होती थी। पर मनुष्य स्वर्ग लेना चाहता है दुःख के बल से। तो क्या उससे हार माननी पड़ेगी।

मेनका को बुला कर इन्द्र ने आज्ञा दी—जाओ उसकी तपस्या भङ्ग करो।

मेनका ने कहा—सुरराज, यदि स्वर्ग के अस्त्र से मर्त्यलोक

का मनुष्य पराजित किया जाय तो इससे स्वर्ग का ही पराभव है। क्या मनुष्य का मरण वाण स्त्री के हाथ में नहीं है।

इन्द्र ने कहा—यह भी तो सच है।

(४)

वसन्तकालीन पवन का झोंका खाकर माधवी लता प्रफुल्ल हो उठी। इसी तरह एक दिन उस लकड़ी वेचनेवाली लड़की को भी नन्दन वन की हवा आकर लग गई। एक प्रकार के औत्सुक्य-पूर्ण माधुर्य के उन्मेष से उसका हृदय व्यथित हो उठा। उसके मन की भावनायें छत्ते से मधुमक्खियों के समान उड़ने लगीं। उन्हें कहीं मधु की गन्ध मिल गई।

ठीक इसी समय साधना की एक क्रिया शेष हुई। अब उसे निर्जन गिरि-गह्वर में जाना पड़ेगा। उसने आँखें मलीं। सामने देखा कि लड़की के जूड़े में अशोक की मञ्जरी है और उसके शरीर पर वासन्ती रङ्ग की साड़ी। वह पहचान में आती थी और नहीं भी आती थी, मानो वह ऐसा सङ्गीत हो जिसका स्वर तो परिचित है पर पद स्मरण में नहीं आते।

तपस्वी आसन छोड़ कर उठा और बोला—मैं बड़ी दूर जाऊँगा।

लड़की ने पूछा—क्यों जायँगे प्रभो?

तपस्वी—तपस्या पूर्ण करने के लिए।

लड़की ने हाथ जोड़ कर कहा—मुझे दर्शन के पुण्य से क्यों वञ्चित करते हैं?

तपस्वी फिर आसन पर बैठ गया और कुछ सोचने लगा। पर उसने कुछ कहा नहीं।

(५)

तपस्वी ने लड़की के अनुरोध को मान लिया, पर यहीं बात

उसके हृदय में चुभने लगी। वह सोचने लगी—मैं तो साधारण लड़की हूँ। तो मेरी बात से बाधा क्यों हो।

उसी रात पत्ते के बिछौने पर अकेली पड़ी पड़ी वह ,खु अपने आप से डरने लगी।

दूसरे दिन सवेरे वह फल तोड़ कर ले आई और तपस्वी ने हाथ फैला कर ले लिया। उसने पत्ते के दोने में जल लाकर दिया और तपस्वी ने उससे पानी पिया। सुख से लड़की का हृदय पूर्ण हो गया। किन्तु इसके बाद नदी के किनारे शिरीष की छाया के नीचे उसकी आँखों के आँसू नहीं थमे। न जाने वह क्या सोचने लगी।

दूसरे दिन उसने तपस्वी को आकर प्रणाम किया और कहा—प्रभो, मैं आशीर्वाद चाहती हूँ।

तपस्वी—क्यों ?

लड़की—मैं बड़ी दूर जाऊँगी।

तपस्वी ने कहा—तुम्हारी साधना सिद्ध हो।

(६)

एक दिन तपस्या पूर्ण होगई। इन्द्र ने आकर कहा—स्वर्ग पर तुम्हारा अधिकार होगया। तपस्वी ने कहा—अब स्वर्ग की जरूरत नहीं है।

इन्द्र ने पूछा—तो तुम क्या चाहते हो ?

तपस्वी बोला—मैं इसी वन की लकड़ी बेचनेवाली लड़की को चाहता हूँ।

५—खिलौना

(१)

वह केवल नये नये खिलौने बनाया करता था। वे खिलौने राजमहल की राजकन्याओं के खेलने के लिए थे।

प्रतिवर्ष राजमहल के आँगन में खिलौने का मेला लगता था। उस मेले में बड़े बड़े कारीगर आते थे। परन्तु सब से अधिक प्रतिष्ठा उसी की होती थी। सब लोग उसी को सबसे ऊँचा स्थान देते थे।

जब वह सत्तर वर्ष का हो गया तब उस, मेले में एक नया कारीगर आया। उसका नाम था किशनलाल। जैसी उसकी नई अवस्था थी वैसा ही उसका नया ढङ्ग था।

वह जो खिलौने बनाता था उनको कुछ तो गढ़ता था और कुछ नहीं गढ़ता था, कुछ तो रँगता था और कुछ यों ही छोड़ देता था। ऐसा जान पड़ता था कि व खिलौने खतम ही नहीं होंगे, उनका कभी अन्त होने का नहीं।

नवयुवकों का दल कहने लगा—इस कारीगर का साहस प्रशंसनीय है।

प्रवीणों के दल ने कहा—यह क्या साहस है? यह तो धृष्टता है।

किन्तु नये युग में नये का ही प्राधान्य होता है। नवयुग की राजकन्याओं ने कहा—हमें तो यही खिलौने चाहिए।

अतीत युग के अनुचरों ने कहा—छि छि, ये सब बुरे हैं।

परन्तु इससे तो राजकन्याओं की जिद बढ़ गई।

पुराने कारीगर की दूकान पर इस बार भीड़ नहीं हुई। क्षोभ में

खिलौने घाट पर नाव की प्रतीक्षा में बैठे हुए यात्रियों की तरह उस पार ताकते हुए चुपचाप पड़े रहे।

एक वर्ष व्यतीत हुआ। बूढ़े का नाम सभी भूल गये। राज महल के खिलौने के बाजार में किशनलाल ही सब का सरदार बन बैठा।

(२)

बूढ़े का जी टूट गया। अब उसे अपने जीवन के शेष दिन काटना कठिन हो गया। अन्त में उसकी लड़की ने आकर कहा—अब तुम चलो, हमारे घर में रहो।

दामाद ने कहा—खाओ, पीओ, आराम करो और खेत की निगरानी किया करो।

बूढ़े की लड़की सारा दिन अपने घर के ही काम में व्यस्त रहती थी। उसका दामाद मिट्टी के दिये बनाया करता था और उन्हें नाव पर लाद कर शहर में ले जाता था।

बूढ़ा यह नहीं समझ सकता था कि अब नया युग आ गया है। इसी तरह वह यह भी नहीं जानता था कि उसकी नतिनी पन्द्रह वर्ष की हो गई है।

वृक्ष के नीचे बैठ कर बूढ़ा खेत की रखवारी करता था और कभी कभी वहीं थक कर सो जाता था। वहीं उसकी नतिनी पीछे से आकर उसके गले में हाथ डाल कर लटक जाती थी। उस समय बूढ़े का एक एक रोम खुश हो जाता था।

एक दिन बूढ़े ने पूछा—क्यों बेटी, तुम्हें क्या चाहिए?

नतिनी ने कहा—हमारे लिए खिलौने बनाओ।

बूढ़े ने कहा—बेटी, मेरे बनाये खिलौने क्या तुम पसन्द करोगी?

नतिनी बोली—क्यों नहीं, तुमसे अच्छा खिलौना बना ही कौन सकता है ?

बूढ़े ने कहा—क्यों, किशनलाल तो बनाता है।

नतिनी बोली—उसकी ताकत क्या।

उस दिन से रोज दोनों में इसी तरह बात-चीत होती थी। बार बार वही एक बात होती थी। इसके बाद बूढ़ा अपनी झोली से सामान निकालता। आँखों में चश्मा लगा कर वह खिलाने बनाने बैठता। परन्तु उसी समय उसको खेत की याद आती। तब वह कहता—बेटी, कौए भुट्टा तो खा जायेंगे।

नतिनी कहती—नाना, काओं को मैं उडा दूँगी।

(३)

बूढ़े को सब से अधिक डर था अपनी लडकी का। उसका शासन भी बडा कठोर था। वह घर के काम-काज में बड़ी साव धान रहती थी।

बूढ़ा एकाग्र मन से खिलौना बनाने में लगा था। पीछे से उसकी लडकी आगई। उसकी आवाज सुन कर बूढ़ा उसकी ओर चश्मा उठा कर अबोध बालक की तरह ताकने लगा।

लडकी ने कहा—दूध दुहा हुआ रक्खा है। तुम सुभद्रा को यहीं लिये बैठे हो। इतनी बड़ी लडकी हो गई है, वह क्या अब खिलौना खेलेगी—या घर का काम काज देखेगी।

बूढ़ा तुरन्त बोल उठा—नहीं, इन खिलौनों को तो मैं राज महल में बेच आऊँगा। जिस दिन सुभद्रा का वर आवेगा उस दिन मैं उसे मोहन माला पहनाऊँगा। उसी के लिए रुपया कमाने की फिक्र कर रहा हूँ।

लड़की ने विरक्त होकर कहा—राजमहल में तुम्हारे खिलौनों को कोई खरीदेगा भी ?

बूढे का सिर नीचा हो गया। वह चुप रह गया। सुभद्रा सिर हिला कर बोली—मैं देखूँगी, नाना के खिलौनों को राज महल में कौन नहीं खरीदता।

(४)

दूसरे ही दिन सुभद्रा ने एक मोहर लाकर अपनी मा को दी और कहा—यह लो, नाना के खिलौने का दाम।

मा ने पूछा—यह कहाँ मिली।

लड़की बोली—मैं खुद राजमहल में जाकर खिलौना बेच आई।

बूढा हँसते हँसते कहने लगा—बेटी, फिर भी तुम्हारा नाना अब आँखों से नहीं देख सकता या उसका हाथ काँप जाता है।

मा ने खुश होकर कहा—इसी तरह की सोलह मोहरें हो जायँ तो सुभद्रा के लिए हार बन जाय।

बूढा बोला—अब कुछ चिन्ता नहीं।

सुभद्रा ने बूढे का गला पकड़ कर कहा—क्यों नाना, मेरे वर की भी चिन्ता नहीं है?

बूढा हँसने लगा और आँखों से आँसू की एक बूँद टपक पड़ी।

(५)

बूढे की युवावस्था लौट आई। वह वृक्ष के नीचे बैठ कर खिलौने बनाता था और सुभद्रा कौआ उड़ाती थी।

एक एक कर सोलह मोहरें हो गईं। सुभद्रा का हार पूरा हो गया।

मा ने कहा—अब तो वर आना चाहिए।

सुभद्रा ने बूढे के कान में धीरे से कहा—नाना, वर तो ठीक हो गया है।

बूढे ने पूछा—अच्छा ! उसे पाया कहाँ ?

सुभद्रा बोली—जिस दिन मैं खिलौना बेचने के लिए राज-महल गई उस दिन द्वारपाल ने कहा—ये खिलौने तो पुराने हो गये हैं। अब इन्हें कोई नहीं खरीदेगा। तब मैं उदास होकर लौटने लगी। मुझे उदास देख कर एक आदमी ने कहा—मुझे ये खिलौने दो। मैं इन्हें कुछ सजा दूँ तो ये बिक जायेंगे। नाना, यदि तुम पसन्द करो तो मैं उसी को जयमाला पहनाऊँगी।

बूढे ने पूछा—वह कहाँ है ?

सुभद्रा ने कहा—वह बाहर खड़ा है।

वह भीतर आया। बूढे ने उसे देखते ही कहा—यही तो किशनलाल है।

किशनलाल ने बूढे का चरण-रज लेकर कहा—हाँ, मैं ही किशनलाल हूँ।

बूढे ने किशनलाल को छाती से लगा कर कहा—भाई, एक दिन तुमने मुझसे मेरे हाथ का खिलौना छीन लिया था। आज तुम मेरे हृदय का खिलौना छीन रहे हो।

६—स्वर्ग में भूल

(१)

वह बिलकुल बेकार था, अकर्मण्य था।

उसका कोई काम नहीं था। सिर्फ तरह तरह के शौक थे।

वह लकड़ी के छोटे छोटे टुकड़ों पर मिट्टी डाल कर उन्हें सजाया करता था। यही एक उसका काम था।

घर में सभी उसका तिरस्कार करते थे। अपमान की हद

नहीं थी। कभी कभी वह प्रतिज्ञा करता था कि मैं यह पागल पन छोड दूँगा। पर पागलपन उसको नहीं छोडता था।

कोई कोई लडके साल भर तक बिलकुल नहीं पढते। फिर भी वे परीक्षा में पास हो जाते हैं। ठीक यही दशा उसकी हुई।

सारा जीवन तो उसने बिना काम किये ही काट डाला। मृत्यु के बाद उसे ख़बर मिली कि वह स्वर्ग में स्थान पा गया है। परन्तु, भाग्य स्वर्ग पथ में भी मनुष्य का साथ नहीं छोड़ता दूतो ने भूल से उसे अकर्मण्यों के स्वर्ग में न ले जाकर कर्मण्यों के स्वर्ग में रख दिया।

(२)

उस स्वर्ग में सब कुछ था, सिर्फ़ अवकाश नहीं था।

यहाँ पुरुष कहा करते थे, दम लेने की फ़ुरसत नहीं। स्त्रियाँ कहती थीं, मैं तो चली, काम पड़ा है। सभी कहते थे कि समय का मूल्य है। कोई भी यह नहीं कहता था कि समय अमूल्य है।

सभी कहते थे, और तो हमसे कुछ नहीं हो सकता। फिर भी सब ख़ुश रहते थे। 'काम करते करते हैरान हो गया' यही उनकी एक बात थी।

वह बेचारा कहीं भी फ़ुरसत नहीं पाता था। किसी से भी उसका मेल नहीं खाता था। रास्ते पर वह अन्यमनस्क होकर चलता था। इससे कार्य-व्यस्त लोगों को बड़ी बाधा होती थी। चद्दर फैलाकर वह अगर कहीं बैठ कर आराम करना चाहता तो कोई आकर कहता—अरे भाई, यह खेत है। यहाँ बीज बो दिया गया है। तब उसे उठकर चला जाना पडता था।

(३)

रोज एक लडकी बड़ी व्यस्त होकर स्वर्ग के एक झरने से घडे में जल भरने आती थी।

रास्ते पर वह सितार की द्रुतगति की तरह चलती थी।

वह जल्दी जल्दी वालों को सँभाल कर जूड़ा बाँध लेती थी। फिर भी दो चार अलकें उसके कपोल पर झुकी रहती थीं मानो वे उसकी आँखों की कालिमा देखने के लिए झाँक रही हैं।

वह बेकार झरने के किनारे एक ओर चुपचाप वृक्ष की तरह खड़ा रहता था।

खिड़की से किसी भिक्षुक को देख कर जिस प्रकार राज कन्या को दया आती है, उसी प्रकार उस बेकार को देखकर लड़की का हृदय दया-पूर्ण हो गया।

लड़की बोली—जान पड़ता है कि तुम्हें कोई काम नहीं है।

निश्वास लेकर उसने कहा—काम तो करूँ, पर उसके लिए समय नहीं है।

लड़की कुछ समझ न सकी। बोली—मुझसे काम लोगे?

वह बोला—तुम्हीं से काम लेने के लिए तो मैं यहाँ खड़ा हूँ

लड़की ने कहा—क्या काम दूँ।

वह बोला—तुम पानी भरने के लिए जो घड़े लाती हो उस मे एक घड़ा हमको दो।

"घड़ा लेकर क्या करोगे? पानी भरोगे।"

"नहीं, मैं उसपर चित्र बनाऊँगा"। लड़की ने विरक्त हो कहा—मैं जाती हूँ, मुझे फुरसत नहीं।

परन्तु निठल्लों के साथ कार्य-व्यस्त लोगों का कार्य तरह चल सकता है। रोज उसी झरने के पास दोनों होती थी और रोज वह यही कहा करता था—मुझे अप घड़ा दो। मैं उस पर चित्र बनाऊँगा।

हार मान कर लड़की ने घड़ा दे दिया।

उसको लेकर वह उसपर चित्र बनाने लगा। कितने तरह के रङ्ग थे और कितने तरह की रेखायें।

चित्र बन जाने पर लड़की ने उसको ख़ूब ध्यान से देखा, फिर भौंहे टेढ़ी कर पूछने लगी—इसका मतलब?

वह बेकार बोला—इसका कुछ भी मतलब नहीं।

घड़ा लेकर लड़की घर चली गई। दिन में सबकी आँख बचाकर वह उसे देखा करती थी। रात में बिछौने से उठकर दिया जलाकर वह उस चित्र को देखती थी। अपने जीवन में उसने पहली बार एक ऐसी चीज़ देखी जिसका कुछ अर्थ नहीं।

दूसरे दिन जब वह झरने के किनारे आई तब उसके पैरों की द्रुतगति में एक बाधा सी पड़ गई थी, मानों वे भी चलते चलते कुछ अनमने से हो रहे हैं, कुछ ऐसी बात सोच रहे हैं जिसका कुछ अर्थ नहीं।

उस दिन भी उस बेकार से भेंट हुई।

लड़की ने पूछा—अब क्या चाहते हो?

"तुमसे काम माँगता हूँ।"

"कौन सा काम दूँ।"

"यदि स्वीकार करो तो रङ्गीन सूत बुनकर मैं तुम्हारी वेणी बाँधने के लिए डोरा तैयार कर दूँ।

"उससे क्या होगा?"

"कुछ नहीं।"

तरह तरह के डोरे तैयार होने लगे। अब आइना लेकर वेणी बाँधने में लड़की को देरी होने लगी। काम पड़ा रहता था, समय चला जाता था।

(४)

देखते देखते कर्मण्यों के स्वर्ग में एक बड़ा भेद आ गया।

निश लोग चिन्तित हुए। सभा की गई। वे बोले, पहले ऐसा कभी नहीं हुआ।

स्वर्ग-दूत ने अपना अपराध स्वीकार किया, बोला—मैं भूल ो एक निठल्ले को ले आया।

वह बेकार सभा में बुलाया गया। उसकी रङ्गीन पगड़ी और कमरबन्द देखकर लोगों ने समझ लिया कि सचमुच बड़ी भूल हुई।

सभापति ने कहा—तुम्हें पृथ्वी पर लौट जाना होगा। वह अपनी रङ्गीन झोली को हिलाते हुए बोला—तब मैं चला।

लड़की बोली—मैं भी जाऊँगी।

सभापति कुछ अन्यमनस्क सा हो गया। उसने भी पहली बार एक ऐसी घटना देखी जिसका कुछ मतलब नहीं।

९—अनन्त प्रेम

(१)

उन दिनों, इसी देश में, चौदह वर्ष की एक लड़की थी। उस नाम था मर्तिनी। उसका अन्त काल आ गया। वह अच -क रोग से आक्रान्त हुई। उसके बचने की कोई सम्भावना थी। उसके मा-बाप गरीब देहाती थे। एक छोटा सा खेत एक कुटी छोड़कर उनके पास कुछ नहीं था। यही कन्या सर्वस्व थी। उस पर उनका अगाध प्रेम था। कन्या का काल देखकर वे बड़े शोक विह्वल हो रहे थे। विशेष वि का एक कारण यह था कि उनकी कुटी गाँव से बहुत और मृत्यु के पहले गाँव का पुरोहित आ जाय, इसकी नहीं थी। मा बड़ी धर्मिष्ठ थी। उसकी कन्या पुरोहित गुप्त पाप कह कर अन्त काल में निष्कृति न पा सके, य

लिए बड़ी चिन्ता की बात थी।

दोनों इसी चिन्ता में थे कि उन्होंने किसी की आवाज़ सुनी—कुछ चिन्ता की बात नहीं है।

शोकातुर होने पर भी यह आवाज सुनकर दोनों मुग्ध हो गये। उन्होंने देखा कि रोगिनी के बिछौने के पीछे एक स्पष्ट शुभ्र मूर्ति सी खड़ी है। उसके दो पख हैं। उन लोगों ने फिर आवाज सुनी। वह मूर्ति कहने लगी—मैं मर्तिनी का रक्षक देवता हूँ। कोई भी देवता पुरोहित का स्थान ग्रहण कर पाप प्रक्षालन कर सकता है। इसमें कोई हानि नहीं है। तुम लोग उस ओर मुँह फेर कर कोने में खड़े हो जाओ। तुम्हारी कन्या मुझसे अपने पापों का हाल बतलावेगी। वह बिलकुल निर्दोष है। क्षण भर में मेरा काम पूरा हो जायगा।

(२)

आजकल यह सम्भव नहीं है कि कोई स्त्री किसी देवदूत के सामने अपना पाप स्वीकार करे। परन्तु एक समय इसी देश में ऐसी घटना हो गई है। मर्तिनी ने अपने छोटे छोटे सभी दोषों को स्वीकार कर लिया और देवदूत उन पापों से उसको मुक्त कर उसे आशीर्वाद देने लगा। इसी समय मर्तिनी को एक और पाप की सुध आई। उसने अपनी एक सखी के पास बड़ा सुन्दर गुलूबन्द देखा था। उसे देखकर उससे न रहा गया, उसने उसे चुरा कर छिपा लिया। इसमें दो अपराध थे। एक तो सुन्दर गुलूबन्द पहनकर पुरुषों के चित्त आकृष्ट करने की वासना और दूसरी चोरी। देवदूत ने उसका यह अपराध सुन कर कहा—मैं नहीं जानता कि मुझे इसके लिए तुम्हें क्षमा करनी चाहिए या नहीं। वह गुलूबन्द कहाँ है?

"तकिये के नीचे।"

"उसे लौटाना होगा।"

"मैं तैयार हूँ। परन्तु मैं रोग से कातर हूँ, उठ-बैठ सकती नहीं, चलने की कौन कहे। मैं किस तरह लौटा सकूँगी। उसका घर इस खेत के दूसरी ओर है।"

देवदूत ने कहा—इसमें कोई बाधा नहीं। एक काम करो। तुम अपना रोग मुझे दो और मेरा स्वास्थ्य तुम लो। तुम्हारे बदले मैं इस बिछौने पर पड़ा रहूँगा। तुम्हारे मा बाप जान नहीं सकेंगे। मैं अपने पंख को चद्दर के नीचे छिपा रक्खूँगा।

मर्तिनी बोली—आपकी जो आज्ञा। मै वही करूँगी जो आप कहेंगे।

"परन्तु मैं तुम्हें सावधान किये देता हूँ। रास्ते में देरी मत करना। बात यह है कि अगर तुम्हारा आने में देरी हुई और तुम्हारे आने के पहले तुम्हारे मृत्यु-काल का डंका बज गया तो मैं संकट मे पड़ जाऊँगा। तुम्हारी जगह मुझे मरना पड़ेगा।

लड़की बोली—इसकी चिन्ता मत कीजिए। मैं कभी आपको ऐसे संकट में नहीं डालूँगी। मैं पल भर में लौट आऊँगी।

देवदूत की कृपा से स्वास्थ्य पाकर मर्तिनी खाट से उठ गई। वह चुपचाप कपड़े पहन कर तुरन्त धीरे से दरवाजा खोल कर घर के बाहर हुई।

(३)

कितनी ही झाड़ियों और खंदकों को पार कर मर्तिनी जल्दी जल्दी जाने लगी। यद्यपि रात अँधेरी थी तो भी वह अच्छी तरह रास्ता जानने के कारण भटकी नहीं। वह शीघ्र ही अपनी सखी के घर पहुँच गई। उसने धीरे से दरवाजा खोला और भीतर आकर सन्दूक में गुलूबन्द को बन्द कर दिया। सौभाग्य से उस समय कोई वहाँ नहीं था। गुलूबन्द रख कर मर्तिनी घर

लौटी। सच्ची बात कहनी होगी। लौटते समय उसकी गति मन्द पड़ गई। तब क्या वह देवदूत को स्वास्थ्य लौटाना नहीं चाहती थी? नहीं, यह बात नहीं थी। मर्तिनी की पारलौकिक सद्गति के लिए देवदूत ने जो उपकार किया था उसे वह भूल नहीं गई थी और न वह अपनी प्रतिज्ञा को ही भूली थी। परन्तु वह बिलकुल थक गई थी। इसी समय चन्द्रोदय हुआ और एक कोयल बोल उठी—कुहू-कू। मर्तिनी के पैर रुक गये। चन्द्रमा के इस शीतल प्रकाश में कोयल की यह मधुर ध्वनि सुनकर कौन नहीं मुग्ध होगा। वह सोचने लगी—कल भी चन्द्रोदय होगा। कल भी आकाश में यही तारे उदित होंगे। परन्तु वह यह शोभा न देख सकेगी। वह अपने उसी बिछौने पर चिर निद्रा में पड़ी रहेगी। यह बात सोच कर उसे बड़ा विषाद हुआ। परन्तु पलभर में विषाद दूर कर वह तेजी से चलने लगी। कुटी दिखाई देने लगी। इतने में वेला की मधुर ध्वनि सुनाई दी। उसी की कुटी के दूसरी ओर एक घर में गाँव भर के लोग एकत्र थे। नाच हो रहा था। मर्तिनी रुक गई। वह मुग्ध होकर सङ्गीत सुनने लगी। फिर उसने सोचा—अब मेरा घर तो दूर है नहीं। एक बार मैं भी नाच लूँ। बस, यही अन्तिम बार है। देवदूत को अवश्य कष्ट होगा। देरी करना अच्छा नहीं। परन्तु एक बार नाच लेने में क्या हानि है।

(४)

एक नाच के बाद दूसरा, दूसरे के बाद तीसरा, इसी तरह मर्तिनी नाचती ही गई। प्रत्येक नाच के पहले मर्तिनी कहती—बस, यही अन्तिम है। अब मैं मरने के लिए जाऊँगी। परन्तु जब नृत्य का सङ्गीत प्रारम्भ होता तब उसमें इतना मनोबल नहीं था कि उसे छोड़ कर वह चली जाती। उसे अनुताप होता था।

तु वह कुछ कर नहीं सकती थी। दो बज गये। तब तो
नी दृढ निश्चय कर नृत्यशाला के बाहर जाने लगी। इसी
य एक सुन्दर युवक उसके सामने आ कर खड़ा हुआ। इतना
दर युवक मर्तिनी ने पहले कभी नहीं देखा था। वह गाँव का
कसान नहीं था, न जमींदार था। वह था राजा। रास्ता भूल
जाने के कारण वह इधर निकल पड़ा था। मर्तिनी को देखकर वह
उसपर मुग्ध हो गया। दोनों एक दूसरे पर आसक्त हो गये।
र्तिनी के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। दोनों स्तम्भित से
रह गये। अन्त में राजा ने उसे अपना हृदय अर्पण कर दिया।
मर्तिनी अपनी प्रतिज्ञा न भूलकर भी भूल गई। वह राजा के साथ
गाड़ी में बैठ कर चली गई। परन्तु जाते समय उसे यह सोचकर
बड़ा विषाद हुआ कि देवदूत मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ उसकी
राह देख रहा है।

(८)

मर्तिनी रानी हो गई। उसका वैभव अपरिमित था। बड़े बड़े
महल थे। नित्य एक न एक उत्सव होता रहता था। उसके
सौन्दर्य की बड़ी ख्याति थी। वह बहुमूल्य गलीचे पर चलती
थी, बहुमूल्य वस्त्र पहनती थी और बहुमूल्य अलङ्कार धारण
करती थी। परन्तु यह वैभव उसको विमुग्ध नहीं कर सका।
राजा के प्रति उसका जो प्रेम था और उसके प्रति राजा का
जो प्रेम था उसी से वह मुग्ध थी। उसके इस प्रेम की
कोई तुलना नहीं है। उन दोनों को ऐसा मालूम होता था
कि संसार में उन्हें छोड़ कर और कोई तीसरा है ही नहीं
मर्तिनी देवदूत को बिलकुल ही भूल गई। इस सुख सागर
में डूब कर उसे किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव करने का अ
सर ही नहीं मिला। दूत की बात अतीत की बात हो ग

अतीत की कोई भी बात उसे चिन्तित नहीं कर सकती थी। वह प्रतिदिन निश्चिन्त होकर सोती थी। किन्तु एक दिन एक भयानक घटना हो गई। राजा अचानक अन्तर्हित हो गये। कोई यह न जान सका कि वे कहाँ गये। किसी ने उन्हें नहीं देखा। उनका एक दम लोप हो गया।

(६)

जब मर्तिनी पर यह वज्राघात हुआ, जब वह अकेली हो गई, तब उसे देवदूत की सुधि आई। देवदूत ने न जाने कितने दिनों तक उसकी राह देखी होगी। न जाने कितना कष्ट भोगा होगा और वहीं देवदूत की मृत्यु का कारण हुई। मर्तिनी अपने को धिक्कारने लगी। अन्त में एक दिन वह दरिद्र का वेश धारण कर अपने पुराने गाँव की ओर चली। वह जानती थी कि उसने जो अपराध किया है उसका कोई प्रतिकार नहीं है, वह केवल उस पुण्यस्थान को देखना चाहती थी जहाँ देवदूत ने उसके लिए मृत्यु की यन्त्रणा सही। घर पहुँचने पर उसने देखा कि उसका घर बिलकुल टूट-फूट गया है। पड़ोस के लोगों से पूछने पर मालूम हुआ कि कन्या की मृत्यु हो जाने पर उसके मा-बाप घर छोड़ कर चले गये। कहाँ गये, उसका पता किसी को नहीं था। पहाड के नीचे जो श्मशान भूमि है वहीं उसकी कन्या की कब्र है। यह सुनकर मर्तिनी को यह निश्चय हो गया कि मेरे स्थान में देवदूत ही कब्र में रक्खा गया। मर्तिनी ने सोचा—जाऊँ, एक बार देवदूत के समाधि-स्थान पर जाकर प्रार्थना करूँ। जब वह श्मशान भूमि में पहुँची तब उसने देखा कि एक छोटी सी कब्र पर एक क्रास के नीचे लिखा हुआ था—मर्तिनी। मर्तिनी का हृदय व्यथा से फटने लगा। वह रोती रोती प्रार्थना करने लगी भगवन्! मुझसे कैसा पाप हुआ। अचानक किसी की आवाज

सुनाई पड़ी। मर्तिनी चकित होकर सुनने लगी। किसी ने कहा—मर्तिनी, हताश मत हो। तुम जितना बुरा समझती हो उतना बुरा नहीं हुआ है।

मर्तिनी ने सिर उठा कर देखा कि कास के पास एक शुभ्र स्पष्ट मूर्ति खड़ी है। मूर्ति ने कहा—मैं तुम्हारा रक्षक देवता हूँ। तुम देखती हो, मैं सशरीर उपस्थित हूँ। अब तुम इस कब्र में जाकर सोओ, मैं तुम्हारी आत्मा को स्वर्ग ले जाऊँगा।

"मेरे रक्षक देव, तुमने मेरे लिए न जाने कितना कष्ट सहा होगा।"

"नहीं, मैं जानता था कि तुम लौट नहीं सकोगी। इससे मैं भी तुम्हारे जाने के बाद तुम्हारे पीछे पीछे रवाना हुआ। और जब तक तुम्हारी समझ में मुझे कब्र में रहना पड़ा तब—"

"तब तक तुम कहाँ थे ?"

"तब तक, हे हृदयेश्वरी, मैं अपने महल में था। वहाँ तुम मुझे कितना प्रेम करती था। अब स्वर्ग में भी तुम मुझ पर यही स्नेह रक्खोगी।"

८—निष्क्रिय प्रतिरोध

पराजित देश का एक व्यक्ति अपने देश की विजय का उपाय सोचने लगा। बहुत सोच विचार कर अन्त में उसने यह निश्चय किया कि अब तक मैंने बल प्रयोग से अन्याय का प्रतिरोध करने की चेष्टा की है। अब मैं अपनी यह चेष्टा छोड़ दूँगा। देखूँ, धैर्य और सहिष्णुता से जय लाभ कर सकता हूँ या नहीं।

यह व्यक्ति दुर्बल-चरित्र का मनुष्य नहीं था। उसे अपने

निश्चय से कोई भी नहीं हटा सकता था। एक बार वह जो निश्चय कर लेता था उसी पर वह दृढ़ रहता था। इस बार भी वह ऐसी ही दृढ प्रतिज्ञा कर अपना कार्य करने लगा।

उस देश को जिस राजा ने पराजित कर स्वायत्त किया था उसका नाम था इजमन। उसने नगर के कुछ विशेष लोगों पर देख-रेख करने के लिए अपने नौकरों को आज्ञा दी थी। उन लोगो ने राजा से जाकर निवेदन किया—महाराज, एक आदमी का रङ्ग-ढङ्ग बड़ा विचित्र है। वह न तो कभी बाहर जाता है और न किसी से मिलता जुलता है। जान पड़ता है कि वह अधिकारियों को इस धोखे में रखना चाहता है कि वह नगर छोड़ कर चला गया है।

राजा ने क्रुद्ध हो कर आज्ञा दी—अच्छा, उसे अभी पकड़ कर हमारे पास ले आओ।

राजकर्मचारियो ने तुरन्त ही उसे पकड़ कर राजा के सम्मुख उपस्थित किया। राजा ने आज्ञा दी—देखो, उसके पास क्या है।

उसके पास ऐसी कोई भी मूल्यवान् चीज नहीं थी। जो कुछ चीज़ें थीं वे सब राजा के पास पहुँचा दी गईं।

जब वह व्यक्ति राजा के सामने आया तब राजा उसका रङ्ग-ढङ्ग देख कर समझ गया कि यह मामूली आदमी नहीं है। तो भी उसे डराने के लिए उन्होंने गरज कर कहा—देखता हूँ, तुम आ गये हो।

उस व्यक्ति ने शान्त-भाव से उत्तर दिया—हाँ, आ गया हूँ। मेरे पास जो कुछ था सब लेकर आया हूँ। कुछ भी नहीं छोड़ा।

राजा ने पूछा—अच्छा, अब तुम क्या करते हो?

उसने कहा—मैं तो कुछ नहीं करता। परन्तु मैंने अब यह

निश्चय किया है कि सहिष्णुता से ही मैं जय प्राप्त करूँगा।

राजा जल उठा, क्रुद्ध स्वर से बोला—अच्छा, अभी तुम्हारी जय प्राप्ति की लालसा बनी ही है।

उसने कहा—हाँ, यह लालसा तो बनी ही रहेगी। अन्याय पर विजय प्राप्त करनी ही होगी।

राजा ने कहा—यह धृष्टता। चुप रह, मैं कुछ भी नहीं सुनना चाहता। उसने कहा—मैं तो आपकी बात नहीं कहता हूँ। मेरा लक्ष्य यह नहीं है कि मैं आपके ऊपर जय प्राप्त करूँ।

राजा को विश्वास नहीं हुआ। उसने पूछा—तब तुम किसे जीतना चाहते हो?

वह बोला—मैं अपने ही को जीतना चाहता हूँ।

राजा को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—अभी तो तुमने कहा है कि मैं अन्याय का दमन करना चाहता हूँ। वह अन्याय क्या है?

व्यक्ति—प्रतिरोध और प्रतिघात की चेष्टा।

राजा—झूठी बात।

व्यक्ति—मैं झूठ कभी नहीं बोलता।

भय और विस्मय से राजा के मस्तक पर पसीने की बूँदें दिखाई देने लगीं। राजा सोचने लगा—माजरा क्या है? इस आदमी को हो क्या गया है। उन्होंने फिर पूछा—तुम चाहते क्या हो? उसने कहा—मैं कुछ नहीं चाहता।

"सच?"

"सच।"

ओठ के ऊपर ओठ दबा कर राजा सोचने लगा—तभी तो

राजा बड़ा भावुक था। उसमें यथेष्ट स्फूर्ति थी। परन्तु व किसी की धृष्टता नहीं सह सकता था। यह उसके लिए असह्य कि कोई किसी भी विषय में उसे बाधा देने की चेष्टा करे। इ

से प्रतिरोधकारियों का प्रतिरोध कितना ही तीक्ष्ण क्यों न हो, वह सबका दमन कर देता था। परन्तु अब विद्रोहियो का विष दन्त टूट गया है, अब वह निश्चिन्त हो गया है। तो भी इससे वह तुष्ट नहीं हुआ।

कुछ देर के बाद उसने फिर उस व्यक्ति से पूछा—कुछ दिनों के पहले तो तुम्हारा कुछ दूसरा ही मतलब था। अब तुम्हारा मन कैसे बदल गया? क्या कारण है।

उसने उत्तर दिया—कारण कुछ नहीं है। यह तो मनुष्य की मानसिक अवस्था का स्वाभाविक विकास है।

राजा ने कहा—हाँ, भाई, ठीक कहते हो। हमारा जीवन तो इसी प्रकार का है। आज उसकी गति एक ओर है तो कल दूसरी ओर। अपना पथ हम स्वयं निश्चित नहीं कर सकते। व्यर्थ एक पथ से दूसरे पथ में भटकते फिरते हैं।

इस बात को इजमन ने कुछ दु:ख से कहा। वह जानता था कि अपनी मातृभूमि को पराधीन देख कर इस व्यक्ति को बड़ा दु:ख होता होगा। पर उसका सन्देह दूर नहीं हुआ। वह सोचने लगा, प्रजा का यह शान्ति प्रिय व्यवहार देखने में तो अच्छा लगता है, परन्तु यदि समस्त देश निष्क्रिय प्रतिरोध में प्रवृत्त हो जाय तो हमारा राज्य किस प्रकार चलेगा? प्रजा-शासन, कर सग्रह, ये सब कैसे सम्पन्न होंगे? मन्त्रणा-सभा, विचारालय आदि तो बन्द हो जावेंगे। इसका मतलब क्या है? एक बार इसकी परीक्षा करके तो देखें।

राजा ने नौकरों को हुक्म दिया—देखो, रोज इसी आदमी से हमारा अस्तबल साफ कराओ।

राजा की आज्ञा का पालन हुआ। वह प्रतिदिन चुपचाप अस्तबल साफ करने लगा। राजा उसका धैर्य और सहिष्णुता

देख कर अवाक् रह गया। कुछ दिनों के बाद उन्होंने उसको इससे भी कड़ा काम दिया। परन्तु उसको भी उसने अक्लान्त भाव से सम्पन्न किया। श्रद्धा से राजा का हृदय भर गया। इतना विद्वान् और शिक्षित होकर भी वह नीच से नीच काम को सहर्ष कर लेता है। राजा ने उस व्यक्ति को बुला कर कहा—मैं तुम पर पूरा विश्वास करता हूँ। जाओ, अपने देशवासियों में अपने सत्य का प्रचार करो।

इसके थोड़े ही दिनों के बाद वह व्यक्ति समस्त देश का श्रद्धा भाजन हो गया। सभी ने उसको नेता स्वीकार कर लिया। वह जो कहता था, वही उनके लिए वेद वाक्य था। सभी लोग उसकी नीति का अनुसरण कर निर्द्वेष हो गये। जिसकी जो इच्छा हो करे, वे किसी को नहीं रोकते थे। चोर उनका सर्वस्व ले जाय, वे उसको बाधा नहीं देते थे। किसी का कोई कर्तव्य भी है, यह बात वे सब भूल गये।

उसने कहा—शास्त्र में लिखा है कि मनुष्य का जीवन बड़ा दुःखमय है। वासना तो जीवन को और भी दुःखमय करती है। दुःख दूर करने के लिए सभी वासनाओं को वर्जित करना होगा जब हमारे जीवन में किसी प्रकार की वासना नहीं रहेगी तभी हमारी ग्लानि दूर होगी।

यह सुन कर सब लोगों ने कहा—यह बात बिलकुल ठी । वासना निवृत्ति के साथ हमारे सभी कर्म शान्त होंगे। फि किसी प्रकार की आवश्यकता हमें न रहेगी।

कुछ दिनों के बाद इजमन ने देखा कि उसके चारों अ म्भीर शान्ति है। विस्मित होकर इजमन सोचने लगा—ये दुष्ट हैं, हमें धोखा देना चाहते हैं।

इसी बीच देश भर में कीड़े-पतिङ्गे छा गये। कोई उन्हें म

नहीं था, त्रास तक नहीं देता था।

एक दिन इजमन ने एक नौकर को बुलाकर कहा—इन कीड़ों को हटाओ।

उसने कहा—महाराज, मैं इन्हें नहीं हटा सकता।

राजा ने कहा—क्यों?

वह बोला—उनके भी तो प्राण है। उन्हें मारने से क्या अच्छा होगा?

इजमन ने क्रुद्ध होकर कहा—मेरी बात नहीं सुनोगे तो मैं तुम्हारा सिर कटा लूँगा।

नौकर ने विनीत भाव से उत्तर दिया—महाराज की जैसी इच्छा हो।

उस दिन से सभी काम इसी प्रकार होने लगे। जब इजमन किसी से कुछ कहता तब वह यही उत्तर देता—महाराज की जैसी इच्छा हो। परन्तु कार्य के समय पर कोई काम नहीं करता था। तब उसकी आज्ञा का पालन कौन करता?

राज्य के सभी काम एक एक कर बन्द हो गये। सभी की कर्म-शक्ति लुप्त हो गई। बैठे बैठे थक कर सभी सोने लगे। आलस्य का यह भार इजमन के लिए असह्य हो गया। वह पहले की बातें सोचता था। कैसे अच्छे दिन थे। कितना काम था। प्रजा विद्रोह करती थी और उसका दमन करना पड़ता था। आज यहाँ सैन्य भेजो और कल वहाँ सैन्य भेजो। परन्तु अब तो सारे देश में आलस्य छा गया है। आज समग्र जाति ध्वंसोन्मुख है। इसका क्या परिणाम होगा। अन्य देशों को देखो, वे कैसी उन्नति कर रहे हैं। हमारी क्या दशा है।

इजमन अधिक सोच नहीं सका। वह नगर में एक एक के घर जाकर उनका हाथ पकड़ कर कहने लगा—उठो, यह तुम

क्या कर रहे हो ! इस प्रकार निराश और निश्चेष्ट पड़े रहने से लाभ क्या ?

परन्तु निर्जीव और मृतप्राय देशवासियों ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। वे चुपचाप पड़े रहे।

इजमन ने दूसरा उपाय सोचा, वह एक एक के कान के पास जाकर कहने लगा—देखो, तुम्हारा सर्वनाश उपस्थित है। तुम्हारे देश पर शत्रु चढ़े आ रहे हैं। उनको रोको।

क्षीण स्वर में एक ने कहा—देश-रक्षा भगवान् के हाथ में है। हम क्या कर सकते हैं।

इजमन ने चीत्कार करके कहा—एक बार उठ कर देखो तो, तुममें कुछ रोकने की शक्ति है या नहीं।

यह बात सुन कर उनमें से एक बोला—रोकने की जरूरत ही क्या है ? किसको रोकें।

यही मनुष्य पहले अपने बाहुबल के लिए विख्यात था।

इजमन का धैर्य छूट गया। वह पागल की तरह चिल्ला कर कहने लगा—दुहाई तुम्हारी। तुम कुछ भी तो करो। विद्रोह करो, हत्या करो, जो तुम्हारी खुशी हो करो। मैं कुछ भी नहीं कहूँगा। कुछ करो तो। परन्तु किसी ने उसकी बात का उत्तर नहीं दिया। सब वैसे ही निश्चेष्ट पड़े रहे।

इजमन की आँखों से आँसू बहने लगे। उसने कहा—निष्क्रिय प्रजा को मैं किस प्रकार जागृत करूँ। एक बार उठ कर देखो, इतिहास में निष्क्रिय प्रतिरोध से किसी भी देश या जाति का कल्याण नहीं हुआ है। मैं अकेला क्या करूँ। कौन मेरी सहायता करेगा।

कहीं से कुछ शब्द नहीं आया। सर्वत्र शान्ति और निस्तब्धता बनी रही। कान्तिहीन दृष्टि से सब ताकते रहे।

इसी प्रकार धीरे धीरे समस्त जाति काल के मुख में पड़ कर लुप्त हो गई। अन्त में इजमन ने भी प्राण छोड़ दिया। मरते समय उसने कहा—शक्ति-हीन कर्मोन्माद अच्छा नहीं है, परन्तु निष्क्रियता के अनुष्ठान में भी संयम चाहिए। तभी जाति की अन्त शक्ति बढ़ती है।

९—उन्मादिनी

मेरे मित्र डाक्टर बनेट ने कितने ही दिनों से रायाते आने के लिए निमन्त्रण दे रक्खा था। परन्तु काम के कारण मुझे वहाँ जाने का कभी मौका नहीं मिला। अन्त में एक बार वहाँ जाना मैंने निश्चय किया। जिस दिन मैं रायाते पहुँचा उस दिन खूब कुहरा था। प्लेटफार्म पर मेरे मित्र डाक्टर बनेट मेरी प्रतीक्षा में खड़े थे। उनके साथ गाड़ी पर बैठ कर मैं उनके घर गया। काफी पी लेने के बाद मेरे मित्र ने कहा—चलो, थोड़ा घूम आवें।

छोटे छोटे पहाड़ों के किनारे घूम कर रास्ता गया था। बीच बीच में दो चार घर थे। उनके आस पास, फलों और फूलों के उद्यान थे। दृश्य सचमुच रमणीय था। एक मकान के पास खड़े होकर डाक्टर ने कहा—यहाँ थोड़ा रुक जाओ। मैं एक रोगी को देख आऊँ। इतना कह कर वह घर के भीतर चला गया।

उस घर की बनावट में कुछ विलक्षणता थी। ऐसा जान पड़ता था कि मानो वह गम्भीरता की मूर्ति है। वह जीर्ण हो गया था। उसमें एक भी खिड़की नहीं थी। दीवारें बीच बीच में टूट-फूट गई थीं। घर को देखने से यही भाव उदित होता था कि मानों किसी ने किसी को इसमें बन्द कर रक्खा है।

उसे बाहर के किसी भी मनुष्य को देखने की आज्ञा नहीं है। अब डाक्टर लौटकर आया तब मैंने उससे उस घर के विषय में पूछा।

डाक्टर ने कहा—तुम्हारा अनुमान बहुत कुछ ठीक है। अब इस घर की बन्दिनी बाहर के किसी भी आदमी को नहीं देख सकती। वह बिलकुल पगली हो गई है। उसमें अब जरा भी ज्ञान नहीं है। उसकी कहानी सुनोगे? मेरे राजी होने पर डाक्टर कहने लगा—

बीस वर्ष पहले की बात है। मैंने डाक्टरी शुरू ही की थी। उसी समय इस घर के स्वामी ने आकर मुझे अपने लड़की की चिकित्सा करने को कहा।

लड़की का नाम था वार्था। उसकी उम्र सात आठ साल की थी। वह बड़ी सुन्दर थी। परन्तु वह बिलकुल नहीं बोल सकती थी। यही उसका रोग था। जब वह बहुत छोटी थी तभी वह चलना फिरना सीख गई थी। परन्तु उसके मुख से कभी कोई शब्द स्पष्ट नहीं निकला। लोगों ने समझा कि वह कानों से सुन नहीं सकती। परन्तु परीक्षा करने पर मालूम हुआ कि वह सुन तो अच्छी तरह लेती है। उसकी वाक् शक्ति-हीनता का कारण था मस्तिष्क का विकार।

क्रमशः वार्था बड़ी होने लगी। मैंने चिकित्सा-शास्त्र के सभी बड़े बड़े ग्रन्थ छान डाले और उसको कितने ही दवायें दीं, परन्तु फल कुछ भी नहीं हुआ। पहले वह अपनी धाई को पहचान लेती थी, परन्तु अवस्था बढ़ने पर उसका वह ज्ञान भी लुप्त हो गया। मा को पहचानना तो दूर रहा, उसने कभी अपने मुँह से मा भी नहीं कहा। कभी कभी वह कुछ बोलने की चेष्टा करती थी। परन्तु उसके मुख से केवल अर्थ-हीन शब्द निकलता था।

परन्तु एक विषय में मैंने उसकी कुछ विशेषता देखी। वह विशेषता यह थी कि प्रकृति की भिन्न भिन्न अवस्थाओं से उसके भावों का सामञ्जस्य था। जब आकाश स्वच्छ रहता तब वह पक्षी की तरह आनन्द से बोलती थी। परन्तु यदि आकाश मेघाच्छन्न हुआ तो वह उदास हो जाती थी। जब सूर्य की किरणें घर में प्रवेश करतीं तब वह ताली पीट कर उछलती थी।

अन्त में मैंने उसकी बुद्धि को बढ़ाने के लिए एक दूसरा ही उपाय सोचा। जब वह खाने के लिए बैठती तब उसको दूसरा कुछ भी ज्ञान नहीं रहता था। वह दिन-रात खाना चाहती थी। कब खाने का समय आयगा, इसके लिए वह सदैव व्यग्र रहती थी और इसी से अन्त में वह खाने का घंटा पहचान गई। तब मैं ने उसे घड़ी का कांटा दिखला कर यह बतला दिया कि किस जगह कांटा आने पर खाने का समय आता है। इस तरह वह घड़ी देखना सीख गई। तब उसका यह काम हो गया कि वह घड़ी की ओर बराबर ताकती रहती थी। कब किस घड़ी का कांटा बजने से खाने का समय आ गया, इसे वह अच्छी तरह समझ गई थी। एक बार एक घड़ी के बजने का स्प्रिङ्ग बिगड़ गया। इसी से वह नहीं बजा। तब वह सब कुछ छोड़कर उसी घड़ी को लेकर देखने लगी। जब वह किसी प्रकार नहीं बजा तब उसने उस घड़ी को तोड़ डाला। यह देखकर मैं समझ गया कि उसमें धारणा-शक्ति है, परन्तु वह बहुत क्षीण है। कुछ समय के बाद बार्था में एक परिवर्तन हुआ। वह अब लड़की नहीं रही, युवती हो गई। यौवन के उन्मेष से उसके स्वभाव में परिवर्त्तन न होने पर भी उसके शरीर में बड़ा परिवर्तन हो गया। यों तो बाल्यावस्था में ही वह सुन्दर थी। परन्तु अब उसके शरीर से लावण्य फटने लगा। उसका सुगठित अङ्ग सौष्ठव, दृढ और चपल

पति, उज्ज्वल और भीरु नेत्रों की शून्य और चञ्चल दृष्टि देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाता ने सुन्दरता को मूर्तिमती कर पृथ्वी पर घूमने के लिए छोड़ दिया है।

एक दिन बार्था के पिता ने आकर मुझसे कहा कि मैं बार्था का विवाह कर देना चाहता हूँ। पहले तो उसका यह प्रस्ताव सुनकर मैं अवाक् हो गया। परन्तु बार्था के पिता ने कहा—देखिए, मैं ने सब कुछ करके देख लिया। किसी से कुछ नहीं हुआ। सम्भव है कि विवाह हो जाने पर स्वाभाविक प्रेम उत्पन्न होने पर उसका ज्ञान बढ़े। मैं ने वर भी ठीक कर लिया है। उसका नाम है गास्तों लूसेल। वह राजी हो गया है। इस में सन्देह नहीं कि रुपये और रूप के लोभ से वह विवाह के लिए तैयार हुआ है। परन्तु किया क्या जाय। आपकी क्या राय है?

मैं क्या उत्तर देता, चुप रहा। परन्तु जब बार्था का पिता चला गया तब मैं ने देखा कि उसका कथन उचित ही है। परन्तु इतना मैं समझ गया कि गास्तो बिलकुल पशु है।

अन्त में एक दिन बार्था का विवाह हो गया। विवाह में धूम धाम नहीं हुई। बार्था को विवाह के समय कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। उस समय वह घड़ी देखने में और भोजन के समय खाने में व्यस्त रही। पोशाक देख कर भी उसे कुछ कौतूहल नहीं हुआ।

विवाह के बाद मैं प्रायः उनके घर जाया करता था। गास्तों ने अपनी स्त्री के आदर-सत्कार में कोई त्रुटि न की। वह उसे सदैव प्रसन्न रखने की चेष्टा करता। पहले पहल तो बार्था ने उस पर कुछ ध्यान नहीं किया। किन्तु दो चार महीनों के बाद उसके स्वभाव में कुछ परिवर्तन होने लगा। वह अपने पति को पहचानने लगी। अच्छे भोजन की ओर उसका जिस प्रकार का आग्रह देखा जाता था कुछ कुछ वैसा ही भाव गास्तों के प्रति होने

लगा। जान पड़ता था कि यहीं प्रेम का सूत्रपात्र हुआ। इसके बाद वह अपने पति के हाव भाव और रङ्ग ढङ्ग को बड़ी उत्सुकता से देखने लगी। सीढ़ी पर उसके पैर की आहट पाते ही वह व्यग्र होकर दरवाजे की ओर ताकने लगती थीं। प्रेम की ज्योति से उसकी शून्य दृष्टि उज्ज्वल हो गई और सुख और स्नेह के कारण उसके शरीर की एक नई शोभा हो गई।

वार्था अपने पति को अपना सर्वस्व देकर चाहने लगी। पति प्रेम में उसकी दुर्बल आत्मा का अस्तित्व विलुप्त हो गया। मुझे एक दिन की बात याद है। उस दिन आकाश में मेघ खूब घिर आये थे। सन्ध्या के समय अन्धकार बढ़ने लगा। उस समय वार्था भयभीत हो गई। गास्तों ने उसे सान्त्वना देने के लिए अपना हाथ फैलाया। तब वार्था ने उसकी छाती में अपना मुख इस प्रकार छिपा लिया जिस तरह पक्षी का बच्चा अपनी मा के परों में अपना मुख छिपा लेता है। उस समय उसके मुख पर एक असीम आनन्द का भाव उदित होता था। उसका नीरव और निर्बोध हृदय आनन्द के आवेश में तन्मय हो गया था। उसके इस मूक प्रेम की सरलता देखकर प्रेमिकाओं का हाव-भाव बिलकुल तुच्छ प्रतीत होता था, क्योंकि उस हावभाव में प्रेम की वह गम्भीरता नहीं रहती जो उसके प्रेम में प्रकट होती थी।

किन्तु थोड़े ही दिनों में गास्तों का प्रेम घटने लगा। इस मूक नारी की लीला-हीन सरलता से उसे विरक्ति होने लगी। वह आमोद प्रमोद के लिए शहर जाने लगा। अन्त में यह हुआ कि उस निस्सहाय अबला के पास वह एक घण्टे से अधिक नहीं ठहरता था। परन्तु इससे वार्था का प्रेम बढ़ने लगा। वह रात भर घड़ी लेकर अपने स्वामी की प्रतीक्षा में बैठी रहती थी। कोई भी शब्द होने पर वह चौंक कर बड़ी उत्सुकता से दरवाजे की ओर

दौड़ कर जाती। अभागिनी यह नहीं जानती थी कि उसका भाग्य फूट गया है।

क्रमशः वह रोग-ग्रस्त होने लगी। न वह खाती और न सोती थी। उसके मन में कोई दूसरी अनुभूति नहीं थी। सभी आशाओं, सभी चिन्ताओं और सभी वासनाओं के अतीत वह एक मात्र अपने स्वामी को ही अचल जानती थी। स्वामी का यह अदर्शन उसे असह्य हो गया। कभी कभी रात के अन्त होने पर शास्त्री घर लौटता था। उस समय वार्था का अनिद्र और अनाहार से शुष्क मुख आनन्द से खिल उठता था। उसने अपराधी पति से कभी कुछ नहीं कहा, केवल मूक, कातर तिरस्कार-युक्त दृष्टि से वह घड़ी की ओर देखती।

इसके बाद एक दिन मैं ने सुना कि शास्त्री ने उसे बिलकुल ही छोड़ दिया है। अपनी स्त्री को छोड़ कर वह न जाने कहाँ चला गया। विरह की तीव्रता से वह पगली हो गई। उसका यह पागलपन अभी तक दूर नहीं हुआ है। परन्तु अभी तक वह अपने स्वामी को नहीं भूली है। वह सभी समय एक घड़ी को ताकती बैठी रहती है। एक बार परीक्षा के लिए मैंने उस घड़ी को हटाने की चेष्टा की। उस समय वह इतनी विकल हो गई कि मैंने घड़ी को जहाँ का तहाँ रख दिया। उसके मुख की कान्ति नष्ट हो गई। वह बिलकुल बूढ़ी सी जान पड़ती है।

डाक्टर इतना कह कर रुक गया। मैंने पूछा—उसके मा बाप कहाँ हैं। डाक्टर ने कहा—वे पहले ही मर गये।

हम लोग एक पहाड़ की चोटी पर जाकर बैठ गये। मैंने नीचे देखा, हरी भरी पृथ्वी दूर तक फैली हुई थी। दूसरी ओर दृष्टि फेरी तो पर्वतों की श्रेणी दिखलाई दी। एक ओर निस्तब्ध पृथ्वी थी और दूसरी ओर मूक-पर्वत श्रेणी। मुझे ऐसा जान पड़ा

कि इस निस्तब्ध भूमि में उस मूक उन्मादिनी की व्यथित आत्मा का नीरव आर्तनाद व्याप्त हो रहा है।

१०–टेरसा

मैं तब मास्को के एक कालेज में पढ़ता था। मेरी स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी। इसी से मैं एक छोटे होटल में रहता था। वहाँ सभी तरह के स्त्री-पुरुष रहते थे।

कोठे पर एक कमरे में मैं रहता था। मेरे कमरे के सामने ही एक दूसरा कमरा था। उसमें एक स्त्री रहती थी। वह पोलैंड की थी। स्त्रियों को कुरूपा कहना औचित्य की सीमा के बाहर है। तो भी वह ऐसी नहीं थी कि किसी पुरुष का चित्त उसकी ओर आकृष्ट हो। उसका लंबा शरीर था। शरीर में कोमलता नहीं थी। परन्तु वह ख़ूब मजबूत थी। आँखें बड़ी तीव्र थीं। आवाज भी तेज थी। उसका रङ्ग ढङ्ग पुरुषों की तरह था। सच तो यह है कि उसे देखते ही मुझे कुछ डर सा लगता था। जब तक वह अपने कमरे में रहती थी तब तक मैं अपने कमरे का दरवाज़ा बंद रखता था। गनीमत इतनी थी कि वह अपने कमरे में कम रहती थी। कभी कभी सीढ़ी पर उससे भेंट हो जाया करती। और तब प्राय वह हँसकर मुझसे पूछ बैठती थी—कहो छोटे बाबू, क्या हाल है? अच्छे तो हो? उसका यह हँसना मुझे बड़ा बुरा लगता था। कह तो मैं कुछ सकता नहीं था, क्योंकि वह स्त्री थी। अपने मन के भाव को किसी तरह दबाकर मैं दूसरी ओर मुँह कर चला जाता था। मेरी घृणा बढ़ती ही जाती थी। कभी कभी यह इच्छा होती थी कि मैं कमरा बदल दूँ,

परन्तु मेरा यह कमरा ऐसे अच्छे मौक़े पर था कि उसे छोड़ने को जी नहीं होता था। इसी से मुझे उस स्त्री की सभी बातें चुपचाप सह लेनी पड़ती थीं।

एक दिन मैं आराम से कोच पर लेटा हुआ था। एकाएक मेरे कमरे का दरवाजा खुल गया। मैंने चौंक कर देखा कि दरवाजे पर मेरी वही पड़ोसिन स्त्री खड़ी है। उसने उसी भद्दे स्वर से कहा—"कहो छोटे बाबू, क्या हाल है?" मैंने उत्तर दिया—आपको कुछ काम है क्या?

आज उसका चेहरा कुछ बदला हुआ था। वह उतना कठोर नहीं था। ऐसा जान पड़ता था कि उसमें कुछ कोमलता आ गई है। उसने कहा, तुमसे मुझे एक प्रार्थना करनी है। मानो तो कहूँ।

सुनकर मैं सोचने लगा कि इसका क्या मतलब है, कुछ बुरे उद्देश से तो यह नहीं आई है। इसी सोच विचार में मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया, चुपचाप कोच पर लेटा ही रहा। वह स्त्री बड़ी नम्रता से कहने लगी—मुझे एक चिट्ठी लिखानी है, लिख दोगे?

अब तो कुछ उपाय न था। मैंने अपने मन में कहा—हरामजादी घड़ी भर आराम भी नहीं करने देती। परन्तु उठकर मैं टेबिल के पास बैठ गया और कागज लेकर बोला—कुर्सी पर बैठ जाइए। आप कहते जाइए, मैं लिखता जाऊँगा।

वह एक कुर्सी पर बैठकर मेरी ओर कुछ ऐसे ढङ्ग से देखने लगी कि मानो वह कोई अपराध कर रही हो।

मैंने पूछा—किसको लिखना होगा?

वह बोली—बोल्सलाव कैसपुटक स्विट्सियाना पार्नरोड?

मैंने कहा—अच्छा क्या लिखना होगा?

हाय, हम लोग कितने निर्बोध हैं, कितने स्वार्थपर हैं। हम लोग मुख से तो यह कहते हैं कि सभी मनुष्यों के हृदय है। परन्तु सभी समय हम इसका ख्याल नहीं करते। दूसरों के साथ व्यवहार करते समय हम यह बात भूल जाते हैं। हम लोग अपने ही सुख-दुःख में लीन रहते हैं।

११—वर-लाभ।

यह अपरलोक की कथा है। उससे इस लोक का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह यहाँ से अत्यन्त दूर है, अनन्त आकाश के किसी नक्षत्रमण्डल में वह स्थित है। वहाँ किसी रमणी के साथ एक पुरुष रहता था। एक डाली में दो फूलों के समान वे दोनों रहा करते थे। उनमें कभी विच्छेद-वियोग नहीं हुआ था। वहाँ एक विस्तृत एवं सघन वन था। सब वृक्ष परस्पर ऐसे मिल गये थे कि उनके बीच थोड़ा भी अन्तर नहीं था, पर वृक्षों में ही यह निविड-भाव न था। उस वन में जो कुछ थे सब ऐसे ही मिल गये थे। फूल-फूल में, फल फल में और पत्तों पत्तों में भी विच्छेद नहीं था। जल, पवन और प्रकाश भी वन के उस सुदृढ़ मिलन को भग कर प्रवेश करने का पथ नहीं पाते थे।

उस वन के बीच एक मन्दिर था। वह कब से था, यह कोई नहीं जानता। मन्दिर में कुछ नहीं था। रात को देवता उसमें आया करते थे। सुनते हैं कि उस समय घोर रात्रि के अन्धकार में किसी को साथ में न लेकर यदि कोई मन्दिर में जाकर देवता की आराधना करे और उसे अपने हृदय का रक्त अर्पण करे तो उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होती।

पुरुष और रमणी अनेक वार उस मन्दिर मे गये थे, अनेक बार दोनों ने देवता की प्रार्थना की थी, पर अकेला कोई नहीं गया था। किसी पूर्णिमा की रात्रि में, पुरुष को साथ में न लेकर, रमणी अकेली ही मन्दिर की ओर गई। वन के बाहर चन्द्रमा के प्रकाश में सारा ससार हँस सा रहा था। जल, स्थल, आकाश, सब उज्ज्वल थे। सब में केवल शुभ्रता थी। आकाश में नीलिमा नहीं थी, समुद्र में नीलिमा नहीं थी, सब आलोकमय था। केवल वन के भीतर घोर अन्धकार था। उस स्थान में ज्योत्स्ना नहीं थी, प्रकाश नहीं था।

रमणी उस घोर अन्धकार में मन्दिर के पास आई और भक्ति भाव से देवता को प्रणाम कर प्रार्थना करने लगी, समय व्यतीत होने लगा। रात बढ़ने लगी, पर कुछ न हुआ। अन्त में रमणी ने अपने मर्मस्थल में आघात किया। धीरे धीरे रक्त बिन्दु बिन्दु होकर हृदय से बाहर निकल मन्दिर की सीढ़ियों पर गिरने लगा। इस बार शब्द हुआ, "क्या चाहती हो ?" रमणी ने कहा, "एक पुरुष है। वह मुझे ससार में सब से अधिक प्रिय है। आप उसे वर दें।" शब्द हुआ, "कैसा वर ?" रमणी ने उत्तर दिया, "यह तो मैं नहीं जानती, प्रभो! पर जिससे उसका सब प्रकार से मगल हो वह वर दीजिए।" शब्द हुआ, "तथास्तु।"

चिरकाल की आकाक्षा सफल होने के कारण उसके आनन्द की सीमा न रही। इतने आनन्द का उसने अपने जीवन में कभी उपभोग नहीं किया था। उस आनन्द का भाग पुरुष को देने के लिए वह अधीर हो उठी। धीरे न चल वह उत्कण्ठा से दौड़ने भी लगी। स्थिर वन उसके पदपात से काँप उठा। स्तब्धता भग कर शुष्क पत्रों से मर्मर ध्वनि निकली। अन्धकार में उस शब्द को सुनकर रमणी, न जाने क्यों, चकित और भीत हो गई।

शीघ्र ही वह वन के बाहर आई। बाहर अन्धकार नहीं था। बाहर चन्द्रज्योत्स्ना क्रीडा कर रही थी। वसन्तकाल की पवन बह रही थी। फूलों की सुगन्धि से सब दिशाएँ पूर्ण थीं। दूर में समुद्र तीर के बालुका के कण ज्योत्स्ना के आलोक में, आकाश के नक्षत्रों के समान, चमक रहे थे। समुद्र-तरंग भी अपने अपने अविराम नृत्य में रत थी। आकाश में, पवन में, स्थल पर, सर्वत्र आनन्द की ध्वनि उठने लगी।

रमणी शीघ्रता से चली जा रही थी। उसकी दृष्टि एक बार समुद्र की ओर गई और वह ठहर गई। उसने देखा कि एक नाव समुद्र तरंगों को भंग करती हुई चली जा रही है। रमणी सोचने लगी, "इतनी रात को देश छोड़कर कौन जा रहा है?" वह उत्सुकता से देखने लगी। प्रकाश मन्द होने के कारण यद्यपि वह पहचाना नहीं जा सकता था तथापि रमणी ने शीघ्र ही जान लिया कि वह कौन है। वह मूर्ति उसके हृदय पटल में अङ्कित थी, वह उसका चिरपरिचित पुरुष था।

नाव धीरे धीरे दूर होती जा रही थी। इसी समय रमणी ने क्या देखा? देखा कि उस नाव में एक परम सुन्दरी बालिका पुरुष के साथ बैठी हुई है। उसका सुन्दर मुख चन्द्रमा के प्रकाश में अत्यन्त सुन्दर जान पडता था।

रमणी का हृदय चंचल हो उठा। वह पागल के समान दौडी। वह जरूर रोक लेगी, पुरुष को जाने न देगी! किन्तु सामने समुद्र था, उसकी तरंगों को भेदना असाध्य था। हताश होकर रमणी रोने लगी। अब वह क्या करेगी? रमणी व्याकुल होकर बारम्बार कहने लगी—"लौट आओ, लौट आओ।"

अन्त में, दूसरा उपाय न देखकर रमणी समुद्र में कूद पडी। तरंग प्राचीर को भेद कर वह आगे बढना चाहती थी कि किसी

उसके कान में कहा, "यह क्या करती हो ? तुम यह क्या करती
।?" रमणी ने गद्गद कंठ से कहा, "मैं इसके लिए अपने हृदय
का रक्त देकर देवता से वर भिक्षा माँग लाई हूँ।" अलक्षित
स्वर ने कहा, "अच्छा तो है, वर वह पा भी तो गया।"

रमणी ने पूछा "कौन सा वर ?"

अलक्षित स्वर ने कहा "उसका सर्वाङ्गीण मंगल, तुम से अनन्त
विच्छेद।"

रमणी स्तम्भित हो गई।

फिर शब्द हुआ, "क्यों, तुम सुखी तो हो ?"

रमणी ने धीरे धीरे कहा, "हाँ सुखी।"

चारों ओर फिर निस्तब्धता फैल गई, सिर्फ समुद्र का चञ्चल
जल रमणी के दोनों चरणों को घेर कर 'छल् छल' करने लगा।

१२—बच्चा

बच्चे की माँ ने उसके लिए एक सुन्दर पोशाक बनवा दी
थी। हल्के नीले रंग के मखमल पर जरी का काम किया गया
था। मुझे विश्वास है कि ऐसी सुन्दर पोशाक तुमने कभी
[illegible]खी होगी। इसलिए तुम अनुमान भी नहीं कर सकते कि
[illegible]शाक कितनी सुन्दर रही होगी। उसमें सोने के बटन
थे। जिस दिन वह पोशाक पहन कर बच्चा आइने के पास
हुआ, उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी वही बहन जिस
[illegible]कुमार की कहानी कहा करती है वही राजकुमार सामने
बड़ा हो गया है।

बच्चे की यह इच्छा होती थी कि उसके घर के सा

सड़क पर जो लोग दिन-रात आते जाते रहते हैं वे उसकी पोशाक देखें। तुम समझ सकते हो कि बच्चा उन्हें सिर्फ पोशाक नहीं दिखाना चाहता था, किन्तु उस पोशाक के पहनने वाले को भी दिखलाना चाहता था। बच्चा मन ही मन यह सोचा करता था कि वह उस पोशाक को पहन कर किसी अज्ञात अपरिचित देश में चला जा रहा है और चारों ओर लोग खड़े खड़े उसकी पोशाक को देख रहे हैं। उस समय उसे बड़ी ख़ुशी होती थी।

दोपहर में जब सूर्य ख़ूब चमकता था तब बच्चा यह चाहता था कि वह पोशाक को पहन कर रास्ते पर दौड़े, जिससे उसके बटन और जरी ख़ूब चमकें। परन्तु उसकी मा उसे हमेशा वह पोशाक पहनने नहीं देती थी। वह कहती—यह तो तुम्हारे विवाह की पोशाक है, अभी से उसे पहन कर ख़राब कर डालोगे तो विवाह के दिन क्या पहनोगे। बच्चा यह सोच कर ख़ूब ख़ुश होता था कि जब वह पोशाक पहन कर वर बनेगा तब वह और सब वरों से अधिक सुन्दर जान पड़ेगा।

बच्चे की मा ने उसके सोने के बटन को पतले नीले काग़ज़ से ढक दिया था जिससे उसका रंग न उड़ जाय और बड़ी सावधानी से उसको बच्चे की छोटी आलमारी में बन्द कर रख दिया था। बच्चे को पोशाक पहनने की बड़ी इच्छा होती थी, परन्तु वह अपनी मा की बात को कभी नहीं टालता था। उसकी मा ने कह दिया था की छोटी बहन के विवाह में वह यह पोशाक पहनेगा। बच्चा सोचने लगा कि दो महीने में तो बहन का विवाह होगा ही, उस दिन मुझे यह पोशाक पहनने को मिलेगा ही। इसी से वह उस पोशाक को कभी नहीं निकालता था।

एक दिन सोते सोते उसने स्वप्न में देखा कि उसकी पोशाक के बटनों की चमक जाती रही। उनका रंग बिल्कुल उड़ गया है। जब उसकी आँखें खुलीं तब वह सोचने लगा, यदि सचमुच उन बटनों का रंग उड़ जाय तो। छोटी बहन के विवाह के दिन उसने पोशाक पहनी थी, परन्तु उसे ऐसा जान पड़ा कि बटन के रंग में पहले की सी चमक नहीं है। विवाह के बाद उसने खुद बड़ी सावधानी से अपनी छोटी आलमारी के भीतर उसको बन्द कर दिया था। बीच में वह पोशाक को निकाल कर देखा करता था कि वह बिगड़ तो नहीं गई।

एक दिन रात में अचानक बच्चे की नींद खुल गई। वह उठ बैठा। देखा, खिड़की से चन्द्रमा की उज्ज्वल कान्ति उसके बिछौने पर पड़ रही है। बच्चा उसी प्रकाश की ओर कुछ देर तक ताकता रहा। ऐसा सुन्दर प्रकाश उसने पहले कभी नहीं देखा था। चारों ओर सब लोग सो रहे थे। परन्तु बच्चे को जरा भी डर नहीं हुआ। उसको ऐसा मालूम हुआ कि वह इतने दिनों तक जिस रात की प्रतीक्षा कर रहा था वह रात आगई। उसके हृदय में एक तरह का आन्दोलन होने लगा। उसने स्पष्ट सुना कि कोई उसके कान में कह रहा है कि पोशाक पहनो। बच्चे के मन में यह दृढ़ विश्वास होगया कि पोशाक उसी की है। उस पर किसी का अधिकार नहीं है। यदि वह पोशाक पहन कर खराब कर डालेगा तो भी उसे धमकाने वाला कोई नहीं है। उसने तुरन्त जाकर आलमारी खोली और पोशाक को बाहर निकाला। पहले उसकी मा उसको पोशाक पहनाती थी, परन्तु आज उसने खुद अपने ही हाथों से, बिना किसी की सहायता के, पोशाक पहन ली।

दरवाजा खोल कर बच्चा बाहर आया और अपने घर की

फुलवाड़ी में खड़ा हुआ। उसके शरीर पर चन्द्रमा की उज्ज्वल चाँदनी पड़ने लगी। उसकी पोशाक खूब चमकने लगी। उस पर बच्चे की आखें नहीं ठहरती थीं। इसके बाद वह बड़े बड़े झाड़ों के नीचे चुपचाप खड़ा हो गया। उनके पत्तों से छन कर चन्द्रमा की किरणें आ रही थीं। बच्चे को ऐसा जान पड़ा ये सब पेड़ भी सुन्दर पोशाक पहन कर खड़े हुए हैं। इसके बाद उसकी दृष्टि तालाब की ओर गई। वहां उसने देखा कि छाया सी हो रही है। पहले वह छाया देखकर डर जाता था, परन्तु आज उसे जरा भी डर न मालूम हुआ। चारो ओर निस्तब्धता थी, तो भी झींगुर और इसी तरह के कितने ही अज्ञात जंतुओं की आवाज सुनाई दे रही थी।

बच्चा चलने लगा। वह लाल सड़क को छोड़ कर छोटे छोटे पौधो और घास के भीतर से जाने लगा। काँटे लगने से कभी कभी उसकी पोशाक का कोई कोई भाग फट जाता था। परन्तु आज इसके लिए उसे कुछ भी दुःख नहीं हुआ। उसे ऐसा जान पड़ा कि यह पथ ही उसे न जाने कहाँ लिये जा रहा है। उसको ऐसा मालूम हुआ कि वह घर में जिन राजपुत्र की कहानी सुना करता था उसी की तरह वह भी एक राजपुत्र है। वह भी हाथी पर बैठ कर चला जा रहा है। आज उसका अभिषेक दिवस है।

चलते चलते वह एक तालाब के किनारे पहुँचा। तालाब में पानी अधिक नहीं था। उसके भीतर घास लगी हुई थी। चन्द्रमा के प्रकाश में पानी ऐसा चमक रहा था कि मानो किसी ने चाँदी गला कर ढाल दिया हो। बच्चा तुरन्त ही तालाब के भीतर घुस गया। पानी घुटने तक आया, फिर कमर तक, फिर कंधे तक पहुँच गया। परन्तु बच्चा जरा भी नहीं डरा। वह

तालाब को पार कर गया। उसकी पोशाक पर कितने ही छोटे छोटे पत्ते चिपक गये।

बच्चा भीगी हुई पोशाक पहने आगे चलने लगा। उसे न डर था, न तकलीफ थी। उसे ऐसा ज्ञान पड़ता था कि आज उसकी यह आनन्द-यात्रा बन्द होने की नहीं। वह चलता ही रहेगा। कभी नहीं रुकेगा।

इतने में एक बड़ा काला भौंरा आकर उसके मुँह के चारों ओर उड़ने लगा। पहले बच्चा भौंरे से बहुत डरता था। परन्तु आज उसे वह भौंरा साथी की तरह मालूम हुआ। उसे देखकर वह बड़ा खुश हुआ। भौंरा उड़ते उड़ते उसके ओठों पर बैठ गया।

उसी दिन लोगों ने देखा कि बच्चे का मृत शरीर रास्ते पर पड़ा हुआ है। उसकी पोशाक मिट्टी और धूल से सनी हुई है। परन्तु उसके ओंठ पर हँसी की एक ऐसी झलक बनी हुई है जैसी झलक हजार बार चूम कर भी बच्चे की मा ने कभी उसके ओंठ पर नहीं देखी थी।

२—उपन्यास-रहस्य



कहा जाता है कि सत्य का ही रूप स्पष्ट करने के लिए साहित्य की सृष्टि होती है। काव्य, विज्ञान, इतिहास तथा दर्शन शास्त्र सत्य की ही खोज में लगे रहते हैं। यह सच है कि भिन्न भिन्न शास्त्र भिन्न-भिन्न पथों का अवलम्बन करते हैं। यही कारण है कि इन शास्त्रों के कार्यक्षेत्रों में भिन्नता रहती है। काव्य में कभी कभी इतिहास के विरुद्ध बातें पाई जाती हैं। परन्तु इसका कारण उद्देश्य की भिन्नता है। ऐतिहासिक तथ्य की ओर कवि भले ही ध्यान न दे—क्योंकि वह सर्वकालीन सत्य की खोज करता है—परन्तु वह अपने काव्य में मिथ्या को आश्रय नहीं देगा। जो लोग उपन्यास तथा आख्यायिकाओं को कल्पना प्रसूत समझ कर मिथ्या मान लेते हैं वे भूल में हैं। उपन्यास में कवि अवश्य एक कल्पित समाज का चित्र खींचता है, परन्तु उस चित्र की सभी बातें ऐसी होती हैं कि वे मनुष्य मात्र में घट सकती हैं। अतएव वह मिथ्या नहीं। सहस्र-रजनी-चरित्र के समान तूल तवील किस्सों में अलौकिक और अतिरञ्जित बातों का जमघट रहता है। परन्तु उनके भी भीतर हम मनुष्यत्व का सच्चा स्वरूप देख सकते हैं। विज्ञान इतिहास नहीं। विज्ञान में मनुष्य-समाज

का वर्णन नहीं रहता, उनमें प्राकृतिक अनन्त सत्यों का दिग्दर्शन कराया जाता है। अतएव यदि कोई विज्ञान में ऐतिहासिक तत्त्वों का अभाव देख कर उन्हें मिथ्या कह बैठे तो उसकी बात उपेक्षणीय ही होगी। हमारे कहने का मतलब यह है कि यदि हम किसी कृति में सत्य का स्वरूप देखना चाहें तो हमें उस ग्रन्थ के ध्येय का अनुगमन करना चाहिए। हमें इसी दृष्टि से साहित्य की पर्यालोचना करनी चाहिए।

(२)

साहित्य के दो भेद किये जा सकते हैं, एक काव्य और दूसरा विज्ञान। काव्य में कल्पना का साम्राज्य है और विज्ञान में तर्क का। काव्य कभी भी तर्क का सामना नहीं कर सकता। उपन्यास और नाटक काव्य के अन्तर्गत हैं और इतिहास विज्ञान में सम्मिलित किया जा सकता है। काव्य का कार्यक्षेत्र अन्तर्जगत् है और विज्ञान का उपादान बहिर्जगत् है। हम लोग प्राय बहिर्जगत् की ओर ध्यान देते हैं। अधिकांश लोगों के लिए प्राय सत्य का रूप बाह्य जगत् में ही परिमित होता है। अन्तर्जगत् की घटनाओं में वे सहसा सत्य का स्वरूप नहीं देख सकते। पत्थर के लगने से फल का गिरना सत्य है। उसको सभी मान लेंगे। परन्तु किसी अलक्षित कारण विशेष से मनुष्य के अध पतन में सत्य का दर्शन कर लेना सभी के लिए साध्य नहीं है। वैज्ञानिकों के आविष्कारों की सत्यता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु जब कवि अपनी कल्पना द्वारा अन्तर्जगत् का गूढ रहस्य समझाने लगता है तब कुछ लोग सदिग्ध चित्त हो सकते हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जो कल्पना को सत्य का विरोध समझते हैं।

यह तो सभी को स्वीकार करना पडेगा कि कल्पना निराधार नहीं हो सकती। उसका आश्रय सत्य ही होना चाहिए।

जिसका अस्तित्व नहीं, उसकी कल्पना कैसे की जा सकती है। हम कल्पना द्वारा देख सकते हैं कि मनुष्य आकाश में उड़ता है। कहानियों में हमने मनुष्यों के उड़ने की बात सुनी भी है। इसमें न तो मनुष्य मिथ्या है, न आकाश असत्य है और न उड़ना शब्द ही ग़लत है। तो भी यह बात सच है कि मनुष्य आकाश में नहीं उड़ सकता। संसार में यह बात होती नहीं। तब इस कथन में सत्य क्या है? यदि कोई जन्मान्ध से कहे कि सोने का रङ्ग हरा होता है तो वह इसे स्वीकार कर लेगा और यह मिथ्या बात स्वीकार कर लेने पर भी उसे अपने जीवन में किसी प्रकार की अड़चन न उठानी पड़ेगी। सोने का रंग हरा मानकर भी वह सोने के मूल्य को कम नहीं करेगा। रङ्ग उसके लिए गौण है। सोना ही उसके लिए महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार कहानियों में मनुष्यों के उड़ने की बात मिथ्या होने पर भी कहानी का महत्त्व नहीं घट जाता। चन्द्रकान्ता और चपला के अस्तित्व पर कोई विश्वास नहीं करेगा। तो भी हम उनके सुख-दुख की कथा में इतने व्यस्त रहते हैं कि हम उनके अस्तित्व की सत्यता की ओर ध्यान नहीं देते। कहानी में पात्र नहीं, पात्र का अन्तर्जीवन सत्य है। यदि चन्द्रकान्ता के स्थान कमल-कुमारी रख दी जाय तो भी उससे कथा का रस नष्ट नहीं होगा।

सभी भाषाओं में ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास लिखे जाते हैं। ऐतिहासिक नाटक और उपन्यास की विशेषता यह है कि उनके पात्र ऐतिहासिक होते हैं, कल्पित नहीं। अब प्रश्न यह है कि ऐसे ग्रन्थों के लेखक अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में इतिहास का अनुसरण करते हैं या नहीं। क्या उन्हें अधिकार है कि वे किसी ऐतिहासिक व्यक्ति को किसी अन्य रूप में प्रदर्शित कर सकें। कुछ समय पहले बङ्गाल के एक प्रसिद्ध चित्रकार ने

लक्ष्मणसेन का पलायन नाम का एक चित्र बनाया था। कितने
ही ऐतिहासिकों का कहना था कि ऐसी घटना हुई नहीं। तब
उसका चित्र क्यों बनाया गया? इससे मिथ्या को प्रश्रय मिलता
है। बङ्किम बाबू के कुछ उपन्यासों में इतिहास विरुद्ध बातें
पाई जाती हैं। द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों में महाबत खाँ प्रताप
सिंह के भाई माने गये हैं। हिन्दी में एक बार इला नाम का एक
उपन्यास प्रकाशित हुआ था। वह एक बँगला-उपन्यास का
अनुवाद था। इतिहास विरुद्ध होने के कारण शायद उस पर कुछ
विवाद भी हुआ था और कदाचित् उस पुस्तक का प्रचार भी रोक
दिया गया। बात यह थी कि वह अँगरेजी के एक प्रसिद्ध लेखक
ोरीडन के एक नाटक का अनुवाद मात्र था। बंगाल के
अनुवादक महोदय ने उसके पात्रों के नाम बदल कर ऐतिहासिक
व्यक्तियों के नाम कर दिये। फल यह हुआ कि उसमें उदयपु
के महाराणा उदयसिंह आ गये और हेमू के साथ उनका घोर युद्ध
आ। अब यह पूछा जा सकता है कि इन लेखकों ने इतिहास
वरुद्ध बातें लिखी क्यों?

उपन्यास-लेखक का पहला कर्तव्य यह है वह अपनी क
को सजीव बनावे। कथा की सजीवता का मतलब यही है
पाठक अपनी कल्पना द्वारा उन पात्रों को प्रत्यक्ष देख लें। कथ
मानव-चरित्र का विकास प्रदर्शित किया जाता है, और
मुख्य भी है। परन्तु उसके प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपन्या
ऐसे व्यक्तियों का नामोल्लेख कभी कभी कर देते हैं
पाठकों का चित्त कथा की ओर अधिक आकृष्ट हो जा
इतिहास भी कथा के प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपयुक्त
द्विजेन्द्रलाल राय ने महाबत खाँ का प्रतापसिंह का
दिया है। इससे उनके मेवाड़ पतन के कथा भाग का प्रभाव

गया है, कथा सजीव हो गई है। हमें ऐसे स्थानों में स्मरण रखना चाहिए कि ऐतिहासिक होते हुए भी ये पात्र कवि की सृष्टि ही हैं। अतएव हमें कथा भाग पर खयाल रखकर उनके चरित्र के विकास की ओर ध्यान देना चाहिए। यदि कवि को उसमें असफलता हुई है तो हम उसकी आलोचना कर सकते हैं। अँगरेज़ी के एक समालोचक ने यह निर्णय किया है कि कवि, नाटककार अथवा चित्रकार को यह अधिकार है कि वे परिमित रूप में इतिहास के विरुद्ध भी अपनी कथा की सृष्टि कर सकते हैं। परन्तु एक दम ऐसी झूठ बात भी न लिख देनी चाहिए जिससे कथा का प्रभाव ही नष्ट हो जाय।

रवीन्द्र बाबू ने एक स्थान में लिखा है कि विधि प्रणीत इतिहास और मनुष्य चरित कहानी, इन्हीं दोनों के मेल से तो मनुष्य का संसार बना है। मनुष्य के लिए सिर्फ, अशोक और अकबर ही सत्य नहीं हैं। जो राजपुत्र मणि-माणिक के अनुसन्धान में सात समुद्र को पार कर चला गया था वह भी सत्य है। हनूमान ने गन्धमादन पहाड़ को उखाड़ लिया था, यह भी उनके लिए सत्य है। कौन अधिक प्रामाणिक है और कौन कम प्रामाणिक है, यह उनके लिए कसौटी नहीं है। कथा की दृष्टि से, मनुष्यत्व की दृष्टि से कौन सच्चा है, यही उनकी सत्यता की यथार्थ कसौटी है।

इतिहास में पात्र लेखक की सृष्टि नहीं है। परन्तु उपन्यास में सभी पात्र लेखक की उपज हैं। इसका फल यह होता है कि इतिहास के एक ही पात्र को हम भिन्न भिन्न उपन्यासों में भिन्न भिन्न रूपों में देखते हैं। यह सम्भव है कि किसी उपन्यास में कोई पात्र ऐतिहासिक व्यक्ति से बहुत कुछ मिलता-जलता हो, पर दोनों एक कभी नहीं हुए हैं। इसीलिए एक विद्वान् ने कहा है —

Historical novels even the greatest of them, an not do the specific work of history They ttempt to create, in all the profusion and wealth f nature, typical cases imitated from, but not lentical with recorded facts मतलब यह कि श्रेष्ठ तिहासिक उपन्यासों से भी इतिहास का काम नहीं लिया जा कता। ऐतिहासिक घटनाओं का अनुकरण उनमें भले ही किया ाय, परन्तु वे ऐतिहासिक घटनायें नहीं हैं। सच तो यह है कि पन्यासों में वाह्य ससार की घटनायें दृग्गोचर अवश्य होती हैं, रन्तु वे स्वय महत्त्व पूर्ण नहीं है। औपन्यासिक पात्रों को अपने जीवन की अभिव्यक्ति के लिए किसी देश और काल का आश्रय अवश्य लेना पड़ता है। परन्तु ज्यों ही उनकी जीवन-लीला आरम्भ होती है त्योंही हमारा ध्यान देश और काल से हट कर उन पात्रों पर ही केन्द्रीभूत हो जाता है। लेखक का कला-नैपुण्य तभी ज्ञात होता है जब हम उसकी कृति में उन पात्रों का जीवन देख लेते हैं। ऐतिहासिक वर्णन से पूर्ण लम्बे लम्बे परिच्छेदों से जो बात नहीं व्यक्त हो सकती वह उन दो चार वाक्यों से प्रकट हो जाती है जो औपन्यासिक पात्रों के मुँह से निकलते हैं।

(२)

भारतवर्ष के साहित्य-सेवियों में औपन्यासिकों की सख्या सब से अधिक है। यह हाल प्राय सभी देशों का है। उपन्यासों से सब से बड़ा लाभ यह है कि उनसे घड़ी आध घड़ी अच्छा मनोरञ्जन हो जाता है। इसीलिए उनका प्रचार भी अच्छा है। यदि उपन्यास-लेखक में इतनी कुशलता हो कि वह अपने ग्रन्थ में चित्ताकर्षक घटनाओं का समावेश कर दे तो उसका परिश्रम कभी व्यर्थ नहीं होगा। आलोचक भले ही कहते रहें कि इसमें न

तो मानव-चरित्र का विश्लेषण है और न समाज का यथार्थ चित्रण है। पर उसमें लोक प्रियता तो होगी। कुछ विद्वानों की यह राय है कि उपन्यास शिक्षा प्रद अवश्य हों, कम से कम उनमें सदाचार का सहार तो न किया जाये। पर कितने ही ऐसे लेखक हैं जिन्हें इस बात की ज़रा भी परवा नहीं रहती कि पाठकों पर उनकी कथा का कैसा प्रभाव पड़ेगा। हिन्दी की बात जाने दीजिए। अँगरेजी में तो ऐसे उपन्यासों की भर मार है। पर वहाँ ऐसे समालोचक भी हैं जो ऐसे औपन्यासिकों की पीठ ठोंकते हैं। एक समालोचक ने एक ऐसे ही लखक की तारीफ की है। उक्त लेखक ने अपनी कृति में यह दिखलाया है कि एक स्त्री अपने पति को छोड़ कर एक दूसरे मनुष्य के साथ भाग गई। उसने स्त्री के कार्य का समर्थन किया है और उससे पूरी सहानुभूति प्रकट की है। समालोचक भी लेखक के पक्ष में है। आपकी राय है कि उपन्यास लेखक का काम सदाचार को शिक्षा देने का नहीं, किन्तु कथा कहने का है।

इसमें सन्देह नहीं कि उपन्यास का उद्देश्य मनोरञ्जन है। परन्तु मनोविनोद के लिए अनाचार से पूर्ण उपन्यासों ही की जरूरत हो, यह कहना अनुचित है। कुछ लोग ऐसे अवश्य होते हैं जिन्हें ऐसी ही बातें पसन्द आती हैं जो समाज की दृष्टि में हेय हैं। पर अधिकाश लोगों को ऐसी बातों से मनोविनोद होता है जो बिलकुल स्वच्छ रहती हैं। उपन्यासों में जो यथार्थ चित्रण के पक्षपाती हैं वे केवल समाज के अन्धकारमय भाग को ही प्रकाशित करना चाहते हैं। यह ठीक नहीं है। संसार में अनाचार ही का राज्य नहीं है, वह इतना उच्छृङ्खल नहीं हो गया है कि उसने धर्म को तिलाञ्जलि दे दी हो। इसी प्रकार जो लोग आदर्श चरित्रों की सृष्टि करना चाहते हैं वे अपने ही आदर्श को

सर्वोत्तम समझ कर जगत् का धर्म-गुरु बनने का दावा करते हैं। वे धर्म-शास्त्र के आचार्य बन कर समाज का पथ निर्दिष्ट करना चाहते हैं।

आज-कल भारतवर्ष के अधिकांश औपन्यासिक अपने उपन्यासों में समाज-सुधार का उपाय बतलाते हैं। जो विधवा विवाह के पक्षपाती हैं वे अपने ग्रन्थ में विधवा विवाह की उपयुक्तता सिद्ध करते हैं। जो उसके विरोधी हैं वे उसका खण्डन कर पातिव्रत का माहात्म्य बतलाते हैं। पाश्चात्य शिक्षा के प्रेमी लकीर के फकीरों की दिल्लगी उड़ाते हैं और प्राचीनता के पक्षपाती नवीन सभ्यता की बुराई प्रदर्शित करते हैं। स्त्री शिक्षा के प्रेमी सास-ननदों के अत्याचारों का वर्णन करते हैं और प्राचीनता के अनुगामी शिक्षिता बहू का भ्रष्ट चित्र खींचते हैं। कहानियों में स्थानाभाव से समाज-सुधार की इतनी चर्चा नहीं रहती, तो भी लेखक अपने आदर्श को इतना ऊँचा रखते हैं कि पाठकों का ध्यान उधर अवश्य आकृष्ट हो। लेखक अपने आदर्श को दूसरों पर क्यों लादना चाहते हैं? वे पाठकों को इतना अवकाश क्यों नहीं देते कि पाठक स्वयं उनके पात्रों की परीक्षा करें? कोई कहानियों को धर्मशास्त्र समझ कर तो पढ़ता नहीं। यदि किसी को 'कु' और 'सु' का निर्णय करना हो अथवा समाज शास्त्र की बातें जाननी हों तो वह कहानी पढ़ने क्यों बैठेगा। धर्म-शास्त्र की बातें जाननी हों तो वह कहानी पढ़ने क्यों बैठेगा, धर्मशास्त्र का अध्ययन न करेगा? लेखक समाज की दुर्बलता पर आघात अवश्य करे। पर उसे अपने पात्रों के स्वाभाविक विकास पर जोर देना चाहिए। मतलब यह कि पात्रों के अनुसार समाज की रचना होनी चाहिए। किसी कल्पित समाज के अनुसार मनुष्यों की सृष्टि नहीं होनी चाहिए। सदाचार का सम्बन्ध समाज से है। सत् और असत् की जो

धारणा हम लोगों मे है उसको हमने समाज से ही प्राप्त किया है। यदि मनुष्य समाज से बिलकुल पृथक् रहे, यदि समाज से उसका कोई भी सम्बन्ध न हो, यदि वह एकाकी ही अपना जीवन व्यतीत करे तो उसके लिए सत् क्या होगा ? मनुष्य में जिन नैतिक वृत्तियों का विकास होता है वे समाज की ही सम्पत्ति हैं। समाज के परिवर्तन के साथ उन नैतिक वृत्तियों में भी परिवर्तन होता है। समाज में परिवर्तन होता ही रहता है और उसके अनुसार मनुष्य की नैतिक वृत्तियाँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। समाज चिरन्तन है, नैतिक वृत्तियाँ चिरन्तन हैं और परिवर्तन भी चिरन्तन है। न समाज का अन्त होगा और न सदाचार का, परन्तु यह बात भी निश्चित है कि सदाचार का कोई भी आदर्श स्थिर नहीं रहेगा। आदर्श के नाम से सदाचार का कोई भी साँचा नहीं बनाया जा सकता जो सदैव मनुष्यों को एक ही रूप में ढाल सके। कहा जाता है कि धर्म का नाश कभी नहीं होता, सत्य की सदा विजय होती है। जो सत्य है वह देश और काल के अतीत है। अच्छा अच्छा ही रहेगा और बुरा कभी अच्छा नहीं हो सकता। इस कथन का तात्पर्य यही है कि मनुष्य में धर्म का ज्ञान सदैव बना रहता है। असभ्य जातियाँ भी धर्म के ज्ञान से रहित नहीं होतीं। अच्छे और बुरे की भावना सभी में रहती है। परन्तु जब यह भावना कार्य रूप में प्रकट होती है तब उसके विषय में यही बात नहीं कही जा सकती। जिस हिन्दू के लिए विधवा विवाह अधार्मिक है वही यदि ईसाई हो जाय तो उसके लिए विधवा विवाह अधार्मिक न रहेगा। यह सच है कि कोई धर्म को अधर्म नहीं कहेगा, परन्तु अवस्था बदलने पर वह किसी धार्मिक कृत्य को अधार्मिक कह सकता है। साहित्य में जिस सदाचार का चित्र रहता है वह किसी विशेष काल के विशेष

समाज का प्रतिबिम्ब होता है'। यदि किसी कवि की कृति में सदाचार का उत्कर्ष अङ्कित हुआ है तो इसका मतलब यही है कि मनुष्य के आचरण में वह उत्कर्ष उसी समय में और उसी समाज में माना जा सकता है जिसमें वह कवि स्वयं हुआ है। दूसरे समय और दूसरे समाज में वह उत्कर्ष जीवन में प्रकट नहीं हो सकता। आचरण के उत्कर्ष को सभी लोग, चाहे वे किसी युग और किसी देश के हों, मानेंगे। परन्तु स्वयं उत्कृष्ट आचरण सदैव उत्कृष्ट आचरण नहीं माना जा सकता।'

कुछ समालोचक स्वदेशी और विदेशी कवियों की तुलनात्मक समालोचना करते समय इस बात को भूल जाते हैं। बहुधा साम्प्रदायिक धर्म को ही वे सदाचार की एकमात्र कसौटी मान बैठते हैं'। इसी कारण चरित्र का माहात्म्य देखना उनके लिए असम्भव हो जाता है। कितने ही विदेशी समालोचक इसी संकुचित दृष्टि के कारण भारतीय चरित्र की गरिमा नहीं समझ सके।' हमें स्मरण है कि हिन्दी के एक विद्वान् ने किसी अंगरेजी समालोचक के विषय में यह लिखा था कि जिसके साहित्य में अश्लीलता की हद नहीं वह यदि व्रजभाषा के साहित्य को अश्लील कहे तो आश्चर्य की बात है। परन्तु उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। जब कोई किसी एक समाज के माप से दूसरे समाज को नापने की चेष्टा करेगा तब उसका परिणाम यही होगा।

अच्छा साहित्य में अश्लीलता है क्या? जो सदाचार का विरोधी है वह अश्लीलता नहीं कहा जा सकता। किन्तु जो सत् का संहारक है वही अश्लील है। अश्लीलता से मनुष्य असत् की ओर प्रेरित होता है। वह असत् को सत् नहीं समझता, किन्तु सत् को असत् समझ कर उसी की प्राप्ति की चेष्टा करता है।

जिस साहित्य से ऐसी दुर्भावनायें उत्पन्न हों जिनसे मनुष्य असत् की ओर खिंच जाय उसी को हम अश्लील साहित्य कहेंगे। जब कोई वैज्ञानिक मनुष्य के अङ्ग अङ्ग की परीक्षा कर शरीर-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करता है तब क्या उसके हृदय में कोई दुर्भावना उत्तेजित होती है? जो विद्यार्थी शरीर-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उसकी इस क्रिया को देखते हैं उनके भी हृदय में क्या उस समय कोई दुर्भावना उत्पन्न होती है? इसी प्रकार जब कोई चित्रकार अपनी अन्तर्गत सौन्दर्य-भावना को एक रूप देता है तब क्या वह किसी दुर्भावना के वशीभूत होता है? जब कोई कवि मनुष्य के अन्तस्तल की परीक्षा कर उसके अन्धकारमय जीवन पर प्रकाश डालता है तब क्या वह मनुष्यों को असदाचार की शिक्षा देता है? इसके विपरीत मनुष्य की पाशविक वासनाओं की तृप्ति के लिए जब कोई काम शास्त्र की रचना करता है तब उसकी रचना अश्लील कही जा सकती है। जब कोई चित्रकार मनुष्य के चित्त को विकृत करने के लिए कोई चित्र अङ्कित करता है तब उसके चित्र से अवश्य विकार उत्पन्न होता है। जब कोई कवि शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति के लिए कामुकों की क्रीड़ा का वर्णन करता है तब उसकी कृति अवश्य अश्लील हो जाती है। जिस साहित्य अथवा कला का उद्देश सत्य की परीक्षा या ज्ञान-वृद्धि है वही श्रेयस्कर है।

(२)

आज-कल सभी देशों में उपन्यासों की खूब वृद्धि हो रही है। पुस्तक-रचना का मुख्य उद्देश तो यह है कि उसके द्वारा मनुष्यों की ज्ञान-वृद्धि हो और उनमें सद्भाव जागृत हो। परन्तु अधिकांश उपन्यास ऐसे होते हैं कि उनसे न तो ज्ञान की वृद्धि होती है और न सद्भाव का प्रचार ही होता है। यही नहीं, किन्तु उनसे

असद्भावनाओं का प्रचार होता है। ऐसे ग्रन्थों का प्रभाव समाज के लिए बड़ा ही अनिष्टकर होता है। इसी लिए बड़े बड़े विद्वान् परीक्षक उनका प्रचार रोकने के लिए यत्नशील हैं। अधिकांश परीक्षकों की यही धारणा है कि आधुनिक साहित्य में कुत्सित पूर्ण ग्रन्थों ही की अधिक वृद्धि हो रही है।

साहित्य में मलिन रचनाओं का प्रचार बन्द कर देना बड़ा कठिन काम है। अच्छी और बुरी किताबों का निर्णय करना भी सहज नहीं है। हाल्ब्रुक जानसन नामक एक विद्वान ने लिखा है कि पत्रों में कुत्सित साहित्य के विषय में चर्चा तो खूब की जाती है, परन्तु अभी तक थोड़े ही लोग यह समझ सके हैं कि सचमुच सत्साहित्य है क्या। अधिकांश लोगों की धारणा यह है कि कुत्सित साहित्य में उन्हीं ग्रन्थों का समावेश किया जाना चाहिए जिनमें प्रचलित धर्म, समाज अथवा सदाचार के विरुद्ध बातें लिखी जाती हैं। कुछ लोग यह समझते हैं कि वही बुरी किताबें हैं जिन्हें हम किसी नवयुवक अथवा नवयुवती के हाथ में देने से हिचकते हैं। हाल्ब्रुक जानसन साहब का कथन है कि कुत्सित साहित्य के अन्तर्गत इन दोनों प्रकारों के ग्रन्थों की गणना नहीं हो सकती। आप की तो यह राय है कि सर्वसाधारण जिसे कुत्सित साहित्य समझते हैं वही यथार्थ में पढ़ने योग्य साहित्य है। आप कहते हैं कि बुरी किताबें यथार्थ में वे हैं जिनमें सत्य का संहार किया जाता है। जो कृत्य सचमुच कुत्सित हैं उन पर समाज की मुहर लगाकर भव्यरूप देने का प्रयत्न किया जाता है। जिनमें मिथ्या को इतना प्रश्रय मिलता है उन्हें लोग कदाचित् ही निन्दनीय समझते हैं। अधिकांश लोग जिन उपन्यासों को शिक्षादायक समझ कर पढ़ते हैं उन्हीं के द्वारा कुशिक्षा और मिथ्या संस्कारों का प्रचार होता है। "सत्साहित्य वह है जिसके द्वारा

मनुष्य अपनी उन्नति के लिए चेष्टा करे। जो साहित्य सन्तोष की शिक्षा देती है वह यथार्थ में अनिष्ट कर है।

हिन्दी में ही असत्य के प्रतिपादक 'शिक्षादायक' उपन्यासों का अभाव नहीं है। धर्म के पथ को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए यदि किसी समाज को मिथ्या आदर्शों से सन्तोष होता है तो वह यही हिन्दू समाज है। अपने समाज की दुरवस्था की ओर ध्यान न देकर और उसके प्रतिकार की चेष्टा न कर ये ग्रन्थकार भगवती सीता और सावित्री के पातिव्रत का स्मरण करा समाज के मिथ्या धार्मिक सस्कार और अन्ध विश्वास की पुष्टि करते हैं। समाज की मिथ्या धारणा के विरुद्ध भी कुछ कहना साहस का काम है। जो लोग समाज को उसका यथार्थ रूप दिखलाने की चेष्टा करते हैं उन्हें तिरस्कार ओर लाछना सहनी पड़ती है। बात यह है कि समाज साहित्य पर सदैव अपना प्रभुत्व रखना चाहता है। समाज का पथ सदैव निर्दिष्ट रहता है। उच्छृङ्खलता उसे सह्य नहीं है। जो व्यक्ति उसकी मर्यादा को भङ्ग करने की चेष्टा करता है उसे समाज कठोर दण्ड देता है। साहित्य भी उसका प्रभुत्व अक्षुण्ण रखना चाहता है। यदि किसी ने समाज का नीति के विरुद्ध लिखा तो वह अधार्मिक समझा जाता है और उसे दबाने की पूरी चेष्टा की जाती है। तो भी साहित्य में समाज के विरुद्ध चित्र स्थान पा लेते हैं। यह तभी होता है जब साहित्य में व्यक्तित्व का विकास होने लगता है। अन्त में उसी के द्वारा समाज की मर्यादा भङ्ग हो जाती है। जब हम साहित्य में समाज के विरुद्ध चित्र देखते हैं तब हमें यही बतलाया जाता है कि यह चित्र अनिष्ट कर है। परन्तु यथार्थ बात यह है कि यह चित्र समाज के भविष्य विप्लव की सूचना देता है। जिस शृङ्खला के द्वारा समाज काल की गति को अवरुद्ध करना चाहता है

उसकी भङ्गुरता का आभास हमें उसी चित्र से मिलता है। समाज के पास धर्म का एक साँचा होता है। वह उसी जीवन को धार्मिक समझता है जो उस साँचे में ढला रहता है। वह धर्म को जीवन से पृथक् रखता है। उसके अनुसार धर्म की उत्पत्ति जीवन से नहीं होती, परन्तु जीवन ही धर्म के आधार पर निर्मित होता है। धर्म के अंतर्गत होने से पितृ स्नेह धार्मिक है, मनुष्य-जीवन की स्वाभाविक प्रवृत्ति होने से वह धार्मिक नहीं है। यदि समाज की आज्ञा हो तो व्यक्ति को महाराज दशरथ की तरह पुत्र-स्नेह भी छोड़ना पड़ता है। अपनी धर्म पत्नी के अधिकारों की अवहेलना करना अधार्मिक है, परन्तु समाज की मर्यादा की रक्षा के लिए भगवान् रामचन्द्र जी को सीता जी का त्याग करना पड़ा। समाज का शासन अमान्य नहीं हो सकता। वही यथार्थ में धर्म माना जाता है। भारतवर्ष में धर्म ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य माना जाता है। परन्तु सच पूछो तो हिन्दू धर्म कोई वस्तु नहीं है। हिन्दू समाज ही सब कुछ है। धर्म का जो स्वरूप समाज से निश्चित होता है एक मात्र वही धार्मिक समझा जाता है। जब कोई व्यक्ति समाज से अपना स्वत्व माँगता है तब समाज उसे अधार्मिक कह कर दबाना चाहता है। यही जब साहित्य में प्रकट होता है तब समाज के पक्षपाती आदर्श की दुहाई देकर उसको निर्मूल कर देना चाहते हैं। साहित्य में आदर्श की जो कल्पना की गई है वह बिल्कुल मिथ्या है। साहित्य में आदर्श की सृष्टि हो नहीं सकती। किसी विशेष परिस्थिति में यदि किसी ने किसी प्रकार के जीवन को आदर्श माना हो तो क्या उसका वह परिमित जीवन अनन्त मानव-जीवन के लिए आदर्श हो सकता है? जब साहित्य में किसी आदर्श की सृष्टि कर यह कहते हैं कि

नहीं जा सकते ? उदाहरण के लिए, क्या कथाओं के विषय में यह कहा जा सकता है कि उनमें हमें श्रेष्ठ पुरुषों के ही जीवन की महत्ता देखनी चाहिए। क्षुद्रों की क्षुद्रता देखने से लाभ क्या ? प्राचीन काल की कथाओं में राजा और रानी की ही कहानियाँ वर्णित हुई हैं। रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि सभी काव्यों के नायक महापुरुष हैं। चरित्र-हीन, नीच, दुष्ट जनों को अपनी कृति द्वारा अक्षय करने की चेष्टा किसी ने नहीं की है। तो क्या ऐसे मनुष्यों का जीवन अवर्णनीय है। निवेदन है कि आँख मूँद लेने से हमारे लिए कोई नहीं रह जाता। परन्तु संसार उठ नहीं जाता। वह जहाँ का तहाँ बना रहता है। इसी लिए जो आँख मूँद कर चलने की चेष्टा करते हैं वे ठोकर भी खाते हैं। अतएव नीति की दृष्टि से तो यह आवश्यक है कि मनुष्य भलाई और बुराई दोनों से परिचित हो जाय। परन्तु सबसे बड़ी बात यह है कि हमें मनुष्य-स्वभाव का पूरा ज्ञान होना चाहिए। एक चरित्र-हीन के जीवन में मनुष्यत्व का जो विकास हुआ है वह हमारे लिए उपेक्षणीय नहीं है। ऐसे ग्रन्थों के पाठ से चित्त कलुषित नहीं होता। यथार्थ ज्ञान से सहानुभूति उत्पन्न होती है। जिन लेखकों में यह शक्ति नहीं है कि वे मनुष्य के अन्तस्तल तक पहुँच सकें उन्हीं की रचनाओं में मनुष्यत्व का विकृत रूप प्रदर्शित होता है, जिससे चित्त विकृत होता है। मनुष्य के लिए अधःपतन अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु इस पतनावस्था में जो प्रवृत्तियाँ काम करती हैं उन्हीं में यह शक्ति भी रहती है कि वे मनुष्य को उच्चतम अवस्था में ले आवे। अतएव उनका ज्ञान हमारे लिए अनिष्टकर नहीं है।

३—समालोचना-रहस्य

(१)

आज-कल सभी देशों में साहित्य का स्वरूप बड़ा विशाल हो गया है। ग्रन्थों की गगनस्पर्शी राशि देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि ज्ञान का शिखर कितना ऊँचा है। हिन्दी-साहित्य की अभी उन्नत दशा नहीं है। तो भी उसके ग्रन्थों की संख्या अगण्य है। प्रतिवर्ष ग्रन्थों की संख्या बढ़ती ही जाती है। कहा जाता है कि पुस्तकों से ज्ञान की वृद्धि होती है। कभी भारतवर्ष में पुस्तकों की संख्या से ही ज्ञान का अनुमान किया जाता था। जिसने दस पुस्तकें पढ़ी थी वह पाँच पुस्तकों के पढ़नेवालों से अधिक ज्ञानवान् समझा जाता था। अभी तक हिन्दी में वैसे विज्ञान विशारद हैं जिनको इसका गर्व है कि उनके हाथों के नीचे से हजारों ग्रन्थ निकल चुके हैं। परन्तु क्या हजारों ग्रन्थों के पन्ने उलटनेवाले विज्ञान विशारदों के ज्ञान का अनुमान उनकी पुस्तकों से ही किया जा सकता है? यदि यही बात होती तो आज जगह जगह न्यूटन ही दिखलाई देते। न्यूटन ने विज्ञान की उतनी किताबें देखी तक न होंगी जितनी किताबें हिन्दी के एक ही विज्ञान विशारद के हाथों के नीचे से निकल चुकी हैं। बात यह है कि सभी पुस्तकों का उद्देश ज्ञान-वृद्धि नहीं है। अँगरेजी

में लार्ड वेकन के समय में पुस्तकों की इतनी वृद्धि नहीं हुई थी जितनी आज-कल हो रही है। तो भी उन्हें यह उपदेश देना पड़ा था कि सभी पुस्तकें उदरस्थ करने लायक़ नहीं होतीं। कुछ को चाटना चाहिए, कुछ को चवाना चाहिए और कुछ को निगलना चाहिए। आज-कल साहित्य की वृद्धि होने से कुछ पुस्तकें ऐसी भी हैं जिन्हें सिर्फ़ छूना चाहिए और कुछ तो दर्शनीय मात्र हैं।

साहित्य की श्री वृद्धि से समालोचना का नाम दुष्कर हो गया है। जब सभी पुस्तकों का उपयोग होता है तब उनकी उपयोगिता मे कौन सन्देह कर सकता है। अब प्रश्न यह होता है कि जब हम किसी ग्रन्थ को महत्त्व-पूर्ण कहते हैं तब उसकी परीक्षा किस कसौटी पर की जाती है? क्या ग्रन्थ का महत्त्व उसकी उपयोगिता पर है? यदि यही बात हो तो हमें उपयोगिता की स्पष्ट व्याख्या करनी पड़ेगी। उपयोगिता को श्रेणीबद्ध करना पड़ेगा। यह तो सभी जानते हैं कि वही वस्तु उपयोगी है जो मनुष्य के अभावों की पूर्ति करती है। मनुष्यों के अभाव कुछ तो शारीरिक होते हैं और कुछ आध्यात्मिक। मनुष्यों के हृदय में स्वाभाविक ज्ञान लिप्सा है। ज्ञान की इस इच्छा से मनुष्यों की सुख लिप्सा विदित होती है—ज्ञान की प्राप्ति से उनके सुखों की वृद्धि होती है। इसीलिए मनुष्य ज्ञान का इच्छुक है। अब हम साहित्य की परीक्षा के लिए उपयोगिता-वाद का प्रयोग करते हैं। जो ग्रन्थ अधिकांश मनुष्यों को अधिकतम सुख दे वही सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। इस सिद्धान्त के अनुसार हम कह सकते हैं कि हिन्दी में रामचरितमानस सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है, क्योंकि उसमे अधिकाश लोगों को सब से अधिक सुख मिलता है।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि इस

क-प्रियता ही ग्रन्थ की सच्ची कसौटी मानी गई है। जो ग्रन्थ
सबसे अधिक लोक प्रिय है वही सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण होगा।
आज-कल मेरी कुरेली के उपन्यास खूब लोक प्रिय हैं, अतएव
उन्हें भी महत्त्व-पूर्ण मानना पड़ेगा। हिन्दी में चन्द्रकान्ता ने
कभी अधिकांश लोगों का खूब मनोरञ्जन किया। तब उसकी भी
महत्ता हमें स्वीकार करनी पड़ी। इधर ऐसे भी बड़े बड़े ग्रन्थकार
हैं जिनकी महत्ता में किसी को सन्देह नहीं, पर उनके ग्रन्थ को
कोई पढ़ता ही नहीं। यदि पाठकों की सख्या पर ग्रन्थ की
मता अवलम्बित रहे तो बड़ा अनर्थ हो जायगा। ससार मे
दोषज्ञों की सख्या कम है, अल्पज्ञ ही अधिक है। अतएव छो
टे लोक-प्रिय ग्रन्थकार ही बाजी मार ले जायँगे। कालिदास
लेखा है—'आपरितोषाद्विदुषा न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम
यही बात दूसरे लोगों ने भी कही है। साहित्य का मर्मज्ञ वि
ही साहित्य की उत्तमता का निर्णय कर सकता है।"

उपर्युक्त बात को हम भी मानते हैं। तो भी हम यही
ग्रन्थ का महत्त्व पाठकों की सख्या पर भी अवलम्बि
ह सम्भव है कि किसी विशेष समय में कोई किताब लोक
हो जाय। परन्तु यदि उसमें महत्त्व नहीं है तो वह अधि
तक लोक प्रिय भी नहीं रहेगी। यदि भवभूति के
उसके नाटकों के पाठक दस ही पाँच थे तो आज तक
नाटकों की कद्र करनेवाले पाठकों की सख्या लाखों
पहुँच गई होगी। छोटे ग्रन्थकार काल के सामने
सकते। अतएव हमारा सिद्धान्त भ्रामक नहीं हो सकत

हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध विज्ञान के प्रेमी यह क
कि गम्भीर विषयों के प्रेमी सभी काल में अल्प-सख
पर इससे उसका महत्त्व कम नहीं होता। गणित, र

पदार्थ-विज्ञान आदि विषयों के ग्रन्थ महत्त्व-पूर्ण होते हैं, पर वे थोड़े ही लोगों को अधिकतम सुख दे सकते हैं। डार्विन के प्रेमी पाठकों की सख्या उतनी कभी नहीं हो सकती जितनी डिकन्स के प्रेमियों की है। तो क्या किसी उपन्यास का महत्त्व वैज्ञानिक ग्रन्थ से अधिक है? यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि वैज्ञानिक ग्रन्थ का महत्त्व हमेशा अस्थायी होता है, उसके सिद्धान्त का प्रभाव स्थायी होता है। यदि न्यूटन के समय में वर्तमान विज्ञान की प्रारम्भिक पुस्तकें भी प्रकाशित होतीं तो न्यूटन का भी दिमाग चक्कर खा जाता। इसका कारण उस ग्रन्थ का महत्त्व नहीं है, पर उसके सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण है। पचास वर्ष पहले वैज्ञानिक-साहित्य में जो ग्रन्थ सब से अधिक महत्त्व पूर्ण था उसका महत्त्व अब घट गया है। आज तक कितने ही नये सिद्धान्त स्थिर हो गये हैं। तब वैज्ञानिक ग्रन्थों का महत्त्व किससे निश्चित किया जाय। जिस ग्रन्थ के सिद्धान्तों का प्रभाव संसार में सब से अधिक पड़ा है वही सब से अधिक महत्त्व पूर्ण है। वैज्ञानिक सिद्धान्तों का प्रभाव मनुष्यों की सुख-वृद्धि ही के लिए होता है। अतएव यहाँ भी हम उपयोगिता-वाद का प्रयोग कर सकते हैं। जिस वैज्ञानिक ग्रन्थ से अधिकांश लोगों को अधिकतम सुख प्राप्त हुआ है वही सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है।

अब हमें सुख की भी व्याख्या करनी होगी। शराबियों को शराब से सुख मिलता है, परन्तु वह सुख हानिकर होता है। वही श्रेष्ठ सुख है जिससे सुखों की वृद्धि होती जाय। कितने ही लोगों को गन्दे और अश्लील उपन्यासों में सब से अधिक आनन्द मिलता है। परन्तु ऐसे उपन्यासों का प्रभाव उनके चरित्र पर बड़ा बुरा पड़ता है। फल यह होता है कि ऐसे मनुष्यों को अन्त में दुःख ही सहना पड़ता है। जिस ग्रन्थ से पवित्र भावों का

उद्रेक हो वही अधिक सुख दे सकता है। अतएव काव्यों में वही काव्य श्रेष्ठ है जो मनुष्यों को उदार और उन्नतहृदय करते हैं, नख शिख के वर्णन में अथवा स्त्रियों के भिन्न भिन्न मनोभावों के चित्रण में कवित्व-कला की पराकाष्ठा दिखलाने वाले कवियों की गणना श्रेष्ठ कवियों में नहीं हो सकती। सौन्दर्य-सृष्टि में भारतीय कला कोविदों की असाधारण क्षमता थी। तो भी वे इन्द्रियों के विकास मात्र से कभी सन्तुष्ट नहीं होते थे। उनकी सौन्दर्य-सृष्टि में धर्मादर्श की सूक्ष्म व्याख्या प्रच्छन्न रहती थी।

अब उपयोगिता-वाद के सिद्धान्त में 'श्रेय' और 'प्रेय' का झगड़ा नहीं हो सकता। जो 'श्रेय' है वही यथार्थ में 'प्रेय' है। यदि यह बात नहीं है तो उससे मनुष्यों की तत्कालीन कुरुचि सूचित होती है। यह कुरुचि चिरकाल तक नहीं रह सकती।

साहित्य में उपयोगिता-वाद का सिद्धान्त मानने से भाव प्रधान हो जाता है और भाषा गौण। लोकप्रिय वही हो सकता है जो सभी लोगों के लिए बोधगम्य हो। साहित्य का क्षेत्र दो ही चार विद्वानों का विहारस्थल नहीं रह जाता। उसमें सर्वसाधारण को भी प्रवेश करने की अनुमति रहती है। सब से बड़ी बात यह कि जो साहित्य-धुरन्धर ज्ञान के उच्च शिखर पर बैठकर अनन्त में विहार किया करते हैं उन्हें पृथ्वी पर आकर अपनी विद्या का परिचय देना पड़ता है। अतएव साहित्य की भाषा देव-वाणी नहीं होगी, मनुष्य-वाणी होगी। जो लोग अनन्त की अस्पष्ट छाया का दर्शन कर अपनी कृति को छायात्मक बना डालते हैं उन्हें अपने काव्य का कुहासा दूर करना पड़ेगा।

प्रसादगुण का अर्थ सरलता है, परन्तु सच पूछिए तो भार्मीणनाही सरलता है, उसीमें सरलता का यथेष्ट विकास होता है। नागरिकता में चतुरता है। उसकी सरलता कृत्रिम है। परन्तु साहित्य

में वही शालीनता की सूचक है, और ग्रामीणता दोष मानी गई है। साहित्य में ग्रामीण क्यों दोषों के आकर समझे जाते हैं, यह हमारी समझ में नहीं आता। हम सरलता को तो महत्त्व देंगे, पर सरलता की साक्षात् मूर्ति ग्रामीणों को उससे अलग रक्खेंगे? उपयोगितावाद में ग्रामीणो का भी स्थान है। जो हिन्दी कभी गँवारों की बोली समझी जाती थी उसका भी अब आदर होने लगा है। दान्ते ने शिष्ट जनों की भाषा का तिरस्कार कर ग्रामीण भाषा में अपने महाकाव्य की रचना की और तुलसीदास ने देववाणी की उपेक्षा कर ग्रामीणों की भाषा को अपनी रचना से अलंकृत किया। अतएव ग्रामीणता दोष नहीं है। जब तक ग्रामीण भाषा में पवित्रता है तब तक वह दूषित नहीं और तब तक ग्रामीण भाषा का भी साहित्य पठनीय है।

साहित्य में उपयोगितावाद मानने से यही लाभ है।

(२)

साहित्य के क्षेत्र में लोक प्रियता भी सफलता का एक चिह्न है। सामयिक ग्रन्थों की सफलता का तो वही एक-मात्र लक्षण है। यही कारण है कि कोई भी लेखक लोक-रुचि की उपेक्षा नहीं कर सकता। विचारणीय यह है कि साहित्य के निर्माण में लोक रुचि का कितना प्रभाव पड़ता है।

कहा जाता है कि जो बात एक के लिए रुचिकर है वही दूसरे के लिए अरुचिकर हो सकती है। मनुष्यों में रुचि-वैचित्र्य स्वाभाविक है। तो भी इसमें सन्देह नहीं कि कुछ बातों में सभी मनुष्यों की एक सी रुचि होती है। जिन बातों का सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से है उनमें रुचि की समानता रहती है। परन्तु जिन बातों का सम्बन्ध देश, काल और अवस्था से है उनमें

रुचि-वैचित्र्य देखा जाता है। जीवन-रक्षा मनुष्य-मात्र के लिए
है। इसलिए भोजन पर सब की एक सी रुचि होगी। परन्तु खाद्य
पदार्थों का सम्बन्ध देश, काल और अवस्था से है। इसीलिए
खाद्य पदार्थों पर सभी की एक सी रुचि नहीं होती। कुछ
पदार्थ ऐसे हैं जो किसी एक विशेष देश के निवासियों को रुचिकर
हैं। उनमें भी कुछ ऐसे हैं जो किसी एक विशेष समय में अच्छे लगते
हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो प्रत्येक मनुष्य की मानसिक और शारीरिक
अवस्था के कारण उसे रुचिकर अथवा अरुचिकर होते हैं।
ही बात साहित्य के विषय में भी कही जा सकती है।
ाहित्य में जिन बातों का सम्बन्ध देश, काल और अवस्था से नहीं
, जो सार्वकालीन और सार्वभौमिक हैं, उनमें रुचि-वैचित्र्य
की सम्भावना नहीं है। परन्तु साहित्य के सर्वकालीन और
सार्वभौमिक विषयों को समझने के लिए एक विशेष उन्नत मान-
सिक अवस्था की आवश्यकता है। सभी लोगों की मानसिक स्थिति
इतनी उन्नत नहीं होती है कि वे साहित्य के सार्वकालीन
भाव को समझ सकें। जो लोग इस अवस्था पर
पहुँच गये हैं उनमें रुचि-वैचित्र्य भी नहीं देखा जाता।
अधिकांश लोगों की रुचि देश, काल और अवस्था पर निर्भर
है। राष्ट्रीय साहित्य किसी एक राष्ट्र के व्यक्तियों को रुचिकर
होता है। साम्प्रदायिक साहित्य एक विशेष सम्प्रदाय के अनु-
यायियों को अच्छा मालूम होता है। अपने अपने ज्ञान के अनुसार
लोग अपनी अपनी रुचि के ग्रन्थ ढूँढ लेते हैं। लोक-रुचि
व्यक्तिगत रुचि पर निर्भर नहीं है। व्यक्तिगत मानसिक
अवस्था को छोड़ कर देश की भी एक मानसिक स्थिति होती
है। सर्व-साधारण उसी मानसिक स्थिति पर पहुँचे रहते हैं।
उनकी यह मानसिक स्थिति परिवर्तित होती रहती है। लोक-रुचि

इसी पर निर्भर है। इसी के अनुसार लोक-रुचि में परिवर्तन होता रहता है। इस लोक-रुचि से यह प्रकट हो जाता है कि देश की तत्कालीन सभ्यता किस स्तर पर है। जो साहित्य लोक-प्रिय होगा वह उसी स्तर के अनुकूल होगा।

विद्वानों ने मनुष्य की तीन अवस्थायें निर्धारित की हैं। पहली अवस्था है पाशविक। इस अवस्था में मनुष्य की चित्त-वृत्ति वैसी ही होती है जैसी पशुओं की। क्षुधा, निद्रा, भय, क्रोध आकृष्टि, आदि भाव मनुष्य और पशु में समान हैं। द्वितीय अवस्था मध्यावस्था है। इसमें मनुष्य की बुद्धि-वृत्ति परिपुष्ट होती है। अपनी इसी वृत्ति के कारण मनुष्य पशुओं से पृथक् किया जाता है। तृतीय अवस्था वह है जब मनुष्य अपनी आध्यात्मिक और नैतिक वृत्तियों के कारण अपने पाशविक भावों से बहुत ऊँचा चला जाता है। ये तीन अवस्थायें मनुष्य की व्यक्तिगत जीवन में जिस प्रकार लक्षित होती हैं उसी प्रकार उसके सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में भी व्यक्त होती हैं। बाल्यावस्था में उसकी बुद्धि-वृत्ति की पुष्टि होती है। वृद्धावस्था में आध्यात्मिक का विकास होता है। यही बात समाज और राष्ट्र के जीवन में देखी जाती है। जिस प्रकार किसी तेजस्वी और सुखान्वेषी युवक में वृद्धोचित विज्ञता और संयम की आशा करना अनुचित है उसी प्रकार किसी नवोत्थित और तेजोदृप्त सभ्य जाति से प्राचीन और पुष्ट सभ्यता के नैतिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष की आशा करना असङ्गत है। एक बात और भी है। उन्नतिशील जाति के हृदय में तीव्र आकाक्षा रहती है और पतनोन्मुख जाति में उदासीनता और वैराग्य के भाव प्रबल रहते हैं। मध्यावस्था में उसकी सुख लिप्सा खूब बढ़ी हुई रहती है। तभी जाति में विलासिता की वृद्धि होती है।

यह तो निश्चित है कि प्रथम अवस्था में मनुष्य अपने बाह्य जीवन में ही व्यस्त रहता है। अतएव उसकी रुचि भी उसी जीवन के अनुकूल होती है। बाह्य जगत् उसके लिए अधिक आकर्षक होता है। जिन कलाओं से उसके जीवन में सुख, स्वच्छन्दता, सुविधा और विलास की वृद्धि होती है उन्हीं के आविष्कार में वह निरत होता है। इन्द्रिय की तृप्ति और जीवन के भौतिक अभावों को दूर करने की इच्छा उसकी सभी कृतियों में प्रकट होती है। साहित्य में बाह्य जगत् की प्रधानता रहेगी। कला में बाह्य सौन्दर्य की ओर दृष्टि रहेगी। सङ्गीत और कविता में हृदय की भावनायें स्पष्ट रहेंगी। मतलब यह कि मनुष्य की आत्मा जड के अधीन रहेगी और उसकी सभ्यता भी जड के अनुगत होगी।

द्वितीय अवस्था में आत्मा पर जड़ का प्रभुत्व नहीं रहता। इसमें शारीरिक शौर्य कम हो जाता है। युक्ति का राज्य प्रतिष्ठित होता है। धर्म में तर्क का प्राधान्य होता है। मनुष्य प्राकृतिक और आत्मिक घटनाओं में कार्य-कारण का सम्बन्ध ढूँढने लगता है। साहित्य में वस्तुतन्त्रता का प्रभाव उठ जाता है और वह बुद्धि अवस्था में प्रकट होता है। धर्म की गति नियमित होती है। सङ्गीत और कविता में स्वरों और अलङ्कारों की सृष्टि होती है। संक्षेप में यह सभ्यता वैज्ञानिक होती है।

तृतीय अवस्था में बाह्य जीवन की अपेक्षा आन्तरिक जीवन के प्रति मनुष्य का अधिक अनुराग होता है। आत्म तृप्ति की ओर आत्म-संयम की ओर उसका अधिक ध्यान होता है। धर्म आत्मिक हो जाता है। स्वार्थ-त्याग और दया के भाव खूब फैलते हैं। द्वितीय अवस्था में मनुष्य की युद्ध-लिप्सा क्षीण हो जाती है और तृतीय अवस्था में तो वह बिलकुल लुप्त हो जाती है।

साहित्य, सङ्गीत और कला में चिन्ता-शीलता दिखाई देती है। साहित्य पर लोक-रुचि का प्रभाव यही है।

जो विद्वान हैं, साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ हैं, जिन्हें साहित्य के गुण दोष की परीक्षा करने का अधिकार है, वे यही चाहते हैं कि साहित्य में सुरुचि का प्रचार हो। आजकल हिन्दी में समालोचना की आवश्यकता पर ज़ोर किया जा रहा है, इससे यह स्पष्ट है कि विद्वानों की राय मे वर्तमान हिन्दी साहित्य में सुरुचि का अभाव है। इसमें सन्देह नहीं कि सामयिक साहित्य लोक-रुचि की उपेक्षा नहीं कर सकता। यदि लोक-रुचि विकृत है तो सामयिक साहित्य लोक प्रिय कैसे हो सकता है? इसलिए लोक प्रियता पर जिस साहित्य का अस्तित्व निर्भर है उसके लिए यह सम्भव नहीं कि वह 'सु' और 'कु' की विवेचना करे। यदि वह देखेगा कि लोग 'सु' की अपेक्षा 'कु' की ओर झुक रहे हैं तो वह उसी को ग्रहण करने में सङ्कोच नहीं करेगा। विचारणीय यह है कि साधारण लोग झुकते किस ओर हैं। विद्वानों की राय है कि साधारण लोग साहित्य में सत् और असत् की विवेचना नहीं कर सकते। विवेचना करने का भार विद्वानों ने अपने ऊपर लिया है। तो भी विद्वानो की रुचि सदैव लोक-रुचि के अनुकूल नहीं होती। इससे यह तो प्रकट हो जाता है कि सर्व-साधारण भी विद्वानों के विरुद्ध अपनी कोई सम्मति रखते हैं। यदि यह बात न होती तो हमें साहित्य में एक भी ऐसा उदाहरण न मिलता जहाँ सर्वसाधारण और विद्वानों में विरोध हो। सभी लोक-प्रिय ग्रन्थो की प्रशंसा विद्वान नहीं करते और न विद्वानों द्वारा प्रशंसित सभी ग्रन्थ लोक-प्रिय होते हैं। यह होने पर भी ऐसे लोक प्रिय ग्रन्थों का अभाव नहीं है जो विद्वानों को भी तोष-प्रद हैं। अतएव यह नहीं कहा जा सकता है कि लोक प्रिय ग्रन्थ बुरे ही

लोक-रुचि की व्याख्या कैसे की जाय ?

हैं। तब लोक-रुचि की व्याख्या कैसे की जाय ? भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न
यह कहा जाता है कि भिन्न भिन्न सिर्फ भिन्नता नहीं, एकता
व होती है। परन्तु लोक-रुचि में सिर्फ भिन्नता नहीं, एकता
है। एकता से यह बात सिद्ध होती है कि सभी लोग एक
निश्चित सिद्धान्त के अनुसार किसी का आदर करते हैं यदि
यह बात न होती, यदि लोक-रुचि में सिर्फ भिन्नता रहती, तो
संसार का कोई भी काम नहीं चल सकता। साहित्य अथवा
कला के क्षेत्र में जब कोई कृति लोकप्रिय हो जाती है तब उससे
यह प्रकट हो जाता है कि साहित्य के विषय में सर्वसाधारण
किस आदर्श को स्वीकार कर रहे हैं। बुरे को बुरा समझकर कोई
ग्रहण नहीं करता। सर्वसाधारण में अच्छे और बुरे के जो
दर्श प्रचलित है उन्हीं के अनुसार 'अच्छे' साहित्य का प्रचार
ता है। यदि 'अच्छे' के सम्बन्ध में उनका आदर्श नीचा है तो
नेम्न श्रेणी का साहित्य भी लोकप्रिय हो जाता है। लोक-रुचि
तभी विकृत होती है जब उनमें मिथ्या-आदर्शों का प्रचार
किया जाता है। ये मिथ्या आदर्श कैसे होते हैं, इसकी विवेचना
नीचे की जाती है।

विषय की असाधारणता से उसकी महत्ता सूचित नहीं होती
र न विषय की महत्ता से यह सूचित होता है कि उसका
तिपादन भी महत्त्व-पूर्ण है। भगवान् रामचन्द्र के लोक पावन
चरित्र को आदर्श मान लेने पर भी सभी कवि रामचरितमानस
की रचना नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता
है कि विषय की साधारणता से उनकी क्षुद्रता नहीं प्रकट होती
और विषय क्षुद्र होने पर कवि उसमें अपनी शक्ति का पूर्ण
विकास दिखला सकता है। कविता का विषय एक पतित
मनुष्य होने पर भी विक्टर ह्यूगो के समान श्रेष्ठ कवियों के हा

में लोक पावन हो जाता है। इसका कारण है कवि की आत्मानुभूति। जिसमें अनुभूति नहीं वह श्रेष्ठ आदर्श को भी विकृत कर डालेगा। कई विद्वानों की यह धारणा है कि दूषित रुचि का परिचायक वह साहित्य है जिसमें समाज का दुराचार वर्णित है, परन्तु यथार्थ में दूषित-रुचि उस साहित्य से प्रकट होती है जिसमें मनुष्यत्व का विकृतरूप, उसका मिथ्या आदर्श प्रदर्शित होता है। कहावत प्रसिद्ध है कि सद्वैद्य के हाथ से विष भी इष्ट है, परन्तु कुवैद्य के हाथ से अमृत इष्ट नहीं है। यही बात साहित्य के विषय में भी कही जा सकती है। साहित्य में जब आदर्श के नाम से असत्य का प्रचार किया जाता है तब उसका परिणाम अधिक भयङ्कर होता है।

साहित्य में कला का भी एक आदर्श होता है जो मनुष्य की सौन्दर्य भावना का सूचक है। मनुष्य की यह सौन्दर्य-भावना निरर्थक नहीं है। यह उसके आनन्दमय स्वभाव के लिए आवश्यक है। सौन्दर्य कवल वाह्येन्द्रियों का विषय नहीं। मन और आत्मा का भी विषय है। अतएव कला के आदर्श में हमें इस पर पूर्ण ध्यान देना चाहिए। यदि हम ने कला का एक मात्र वही आदर्श रक्खा जो वाह्येन्द्रियों का विषय है तो हम कला के यथार्थ आदर्श से च्युत हो गये। मिथ्या कल्पना से वाह्येन्द्रियों की तृप्ति भले ही हो, पर मन और आत्मा की तृप्ति नहीं हो सकती। ऐसी कल्पनाओं से वाह्येन्द्रियों को भी क्षणिक ही तृप्ति होती है। ऐसी कल्पना को कोई भी कला का श्रेष्ठ आदर्श नहीं कहेगा। परन्तु एक कल्पना ऐसी भी है जिसे कला का श्रेष्ठ आदर्श मानने के लिए साहस चाहिए। वह है कवि की मिथ्या अनुभूति की कल्पना। जगत् में सौन्दर्य है, पर यह सौन्दर्य उसी के लिए है जो उसका अनुभव करना चाहेगा। परन्तु कुछ लोग ऐसे भी होते

जो सौन्दर्य के विषय में पहले ही से एक मात्रा बनाये रखते । जब वे कहीं कुछ देखते हैं तब वे उसमें सौन्दर्य नहीं देखना हते हैं । वे सिर्फ यही देखना चाहते हैं कि यह रूप किस प्रकार ला जाय जिससे वह उनके साँचे में आ सके। हिन्दी साहित्य 'नायिकायें' उसी साँचे के रूप हैं। वे भारतीय ललनाओं की ीती-जागती मूर्तियाँ नहीं हैं। वे उनके मिथ्या रूप हैं। हिन्दी में आज कल ये साँचे तोड़े जा रहे हैं, परन्तु साँचों को तोड़ देने से ी श्रेष्ठ मूर्ति सामने खड़ी नहीं हो जाती। तोड़ने का काम जो ारी है, परन्तु मूर्ति अभी बनी रही है। इसीलिए हिन्दी के कुछ समालोचकों को बड़ा दुःख हो रहा है। वे इसका बदला लेना चाहते हैं। परन्तु हिन्दी में सत्साहित्य की वृद्धि तभी हो सकती जब सर्व-साधारण में सत् के प्रति अधिक अनुराग उत्पन्न हो। सके लिए उन्हें सत् के सम्बन्ध में शिक्षा देनी होगी।

(२)

हिन्दी के पत्रों में यदा कदा जो समालोचनात्मक लेख निक हैं उनमें प्राय काव्यों और चित्रों की विशेष चर्चा की जाती । ऐतिहासिक, वैज्ञानिक दार्शनिक ग्रन्थों की विवेचना व्यक्तिगत रुचि काम नहीं देती। अमुक वैज्ञानिक-ग्रन्थ हमें प्रिय नहीं है' यह कहने से उस ग्रन्थ की महत्ता नष्ट नहीं हो जाती। वह हमारी समझ में नहीं आया, यह कहने से हमारे ही ज्ञान की अल्पता सूचित होगी, वैज्ञानिक ग्रन्थकार की नहीं। से ग्रन्थों की परीक्षा के लिए योग्यता की जरूरत होती है। परन्तु यही बात काव्यों और चित्रों की समालोचना के विषय में नहीं कही जा सकती। अमुक कहानी हमें अच्छी नहीं लगी इसलिए वह अच्छी नहीं है, यह बात विद्वान् तक कह डाल हैं। चित्रों की परीक्षा में भी लोग अपनी अपनी रुचि के अनुस

फैसला दे डालते हैं। वह चित्र भद्दा है, यह कहने से ही उस चित्र का भद्दापन हो जाता है। उस कविता में विशेषता क्या है, इतने से ही उसकी हीनता प्रकट हो गई। साहित्यिक ग्रंथों में व्यक्तिगत रुचि की प्रधानता होने के कारण किसी ग्रन्थ विशेष के सम्बन्ध में विद्वानों में भी झगड़ा होता रहता है। कविता की परीक्षा करना हमारी शक्ति के बाहर है, चित्र कला से हम सर्वथा अनभिज्ञ हैं और हमारी रुचि भी परिष्कृत नहीं है। अतएव इस सम्बन्ध में हमें अपनी ओर से कुछ कहने का अधिकार नहीं है। अतएव इस सम्बन्ध में श्रेष्ठ विद्वानों ने जो कुछ लिखा है वही यहाँ दिया जाता है।

अँगरेजी में रस्किन का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। कला के सम्बन्ध में उसने जो कुछ लिखा है उसका आदर सभी लोगों ने किया है। कला में मिथ्या आदर्श के सम्बन्ध में उसने लिखा है कि शरीर की सुन्दर गठन को सभी देख सकते हैं और समझ सकते हैं, पर शरीर के द्वारा जिस भाव की अभिव्यक्ति होती है उसको देखने के लिए कुछ समझ चाहिए। अपोलो और वीनस की मूर्तियों में सौन्दर्य देखना कठिन नहीं है, पर सेंट पीटर के झुर्रियाँ पड़े हुए चेहरे में सभी सुन्दरता नहीं देख सकते। जो चित्रकार मनुष्य की आकृति में भिन्न भिन्न अवस्थाओं की भावना व्यक्त करता है उसको अपने जीवन में बड़ा परिश्रम करना पड़ता है। जो चित्र उसके वर्षों के अध्ययन और परिश्रम का फल है उसके विषय में घड़ी भर फैसला दे देना साहस का काम है। यही रस्किन ने लिखा है—

The shallow spectator, delighted that he can really, and without hypocrisy admire what required much thought to produce, supposes himself

endowed with the highest critical faculties, and easily lets himself be carried into rhapsodies about the ideal, which, when all is said, if they be accurately examined, will be found literally to mean nothing more than the figure has got handsome calves to its legs and a straight nose

अर्थात् जो चित्र बड़े परिश्रम से बना है उसको देखते ही कितने स्थूल बुद्धि के दर्शक यह समझने लगते हैं कि इसमें कला की विवेचना करने की शक्ति है और वे आदर्श की धूम मचा देते हैं। यदि उनसे यह पूछा जाय कि भाई, तुमने इसमें कला का कौन सा आदर्श देखा तो वे यही कहेंगे कि देखो, इसकी टाँग कैसी खूबसूरत है, इसकी नाक कैसी अच्छी है। इसी प्रकार यदि उन्हें कोई चित्र बुरा जान पड़ा तो वे उसका भी कोई ऐसा ही कारण बतलावेंगे। परन्तु हिन्दी के कितने समालोचक यह सोचते हैं कि जो कुरूपता हमने क्षण भर में देख ली वह चित्रकार को कैसे नहीं दिखाई दी।

जो बात चित्र के विषय में कही गई है वही काव्य के विषय में भी कही जाती है। काल्पनिक आदर्श के फेर में पड़ कर हम अपने यथार्थ रूप को भूले जा रहे हैं। हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ समालोचकों की राय में नायक-नायिका की प्रेम-लीला में ही कला की पराकाष्ठा है और कुछ लोग धर्म और देश-भक्ति को ही कला का एक-मात्र आदर्श समझ कर उसी की प्राप्ति में संलग्न हैं। इन विषयों की महत्ता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता, पर यह महत्ता कला की कसौटी नहीं है। कितने ही लोग मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर ऐसे आदर्श की सृष्टि के लिए अपने को

फैसला दे डालते हैं। वह चित्र भद्दा है, यह कहने से ही उस चि
का भद्दापन हो जाता है। उस कविता में विशेषता क्या है
इतने से ही उसकी हीनता प्रकट हो गई। साहित्यिक ग्रन्थों
व्यक्तिगत रुचि की प्रधानता होने के कारण किसी ग्रन्थ विशेष
के सम्बन्ध में विद्वानों में भी झगड़ा होता रहता है। कविता की
परीक्षा करना हमारी शक्ति के बाहर है, चित्र-कला से हम सर्वथा
अनभिज्ञ हैं और हमारी रुचि भी परिष्कृत नहीं है। अतएव इस
सम्बन्ध में हमें अपनी ओर से कुछ कहने का अधिकार नहीं
है। अतएव इस सम्बन्ध में श्रेष्ठ विद्वानों ने जो कुछ लिखा है
वही यहाँ दिया जाता है।

अँगरेजी में रस्किन का नाम बड़ा प्रसिद्ध है। कला के
सम्बन्ध में उसने जो कुछ लिखा है उसका आदर सभी लोगों ने
किया है। कला में मिथ्या आदर्श के सम्बन्ध में उसने लिखा है
कि शरीर की सुन्दर गठन को सभी देख सकते हैं और समझ
सकते हैं, पर शरीर के द्वारा जिस भाव की अभिव्यक्ति होती है
उसको देखने के लिए कुछ समझ चाहिए। एपोलो और वीनस
की मूर्तियों में सौन्दर्य देखना कठिन नहीं है, पर सेंट पीटर
के झुर्रियाँ पड़े हुए चेहरे में सभी सुन्दरता नहीं देख सकते।
जो चित्रकार मनुष्य की आकृति में भिन्न भिन्न अवस्थाओं की
भावना व्यक्त करता है उसको अपने जीवन में बड़ा परिश्रम
करना पड़ता है। जो चित्र उसके वर्षों के अध्ययन और परिश्रम
का फल है उसके विषय में घड़ी भर फैसला दे देना साहस का
काम है। यही रस्किन ने लिखा है—

The shallow spectator, delighted that he can
really, and without hypocrisy admire what required
much thought to produce, supposes himself

endowed with the highest critical faculties, and easily lets himself be carried into rhapsodies about the ideal, which, when all is said, if they be accurately examined, will be found literally to mean nothing more than the figure has got handsome calves to its legs and a straight se

अर्थात् जो चित्र बड़े परिश्रम से बना है उसको देखते ही ितने स्थूल बुद्धि के दर्शक यह समझने लगते हैं कि ममें कला की विवेचना करने की शक्ति है और वे आदर्श की म मचा देते हैं। यदि उनसे यह पूछा जाय कि भाई, तुमने इसमें ला का कौन सा आदर्श देखा तो वे यही कहेंगे कि देखो, सकी टाँग कैसी खूबसूरत है, इसकी नाक कैसी अच्छी है। इसी प्रकार यदि उन्हें कोई चित्र बुरा जान पड़ा तो वे उसका भी कोई ऐसा ही कारण बतलावेंगे। परन्तु हिन्दी के कितने समालोचक यह सोचते हैं कि जो कुरूपता हमने क्षण भर में देख ली वह चित्रकार को कैसे नहीं दिखाई दी।

जो बात चित्र के विषय में कही गई है वही काव्य के विषय में भी कही जाती है। काल्पनिक आदर्श के फेर में पड़ कर हम अपने यथार्थ रूप को भूले जा रहे हैं। हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ समालोचकों की राय में नायक-नायिका की प्रेम-लीला में ही कला की पराकाष्ठा है और कुछ लोग धर्म और देश-भक्ति को ही कला का एक-मात्र आदर्श समझ कर उसी की प्राप्ति में संलग्न हैं। इन विषयों की महत्ता पर कोई सन्देह नहीं कर सकता, पर यह महत्ता कला की कसौटी नहीं है। कितने ही लोग मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर ऐसे आदर्श की सृष्टि के लिए अपने को

सर्वथा योग्य समझते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के सम्बन्ध में रस्किन ने लिखा है।

He mistakes his vaity for inspiration, his ambition for greatness of soul, and takes pleasure in what he calls the ideal, merely because he has neither humility nor capacity enough to comprehend the real

अर्थात् ऐसे लोग अपने मिथ्याभिमान को स्फूर्ति समझते हैं और अपनी महत्त्वाकांक्षा को आत्मा की श्रेष्ठता। वे आदर्श की ओर इसी लिए झुकते हैं कि उनमें यथार्थ बात समझ लेने की योग्यता नहीं है। महत् भावना के फेर में पड़ कर किसी देश की क्या दशा हो सकती है, इसका एक प्रमाण हमारा ही देश है।

भारतवर्ष में आज कल देश भक्ति की बड़ी चर्चा हो रही है। देश भक्ति की भावना ने ही राष्ट्रीय साहित्य, राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय झण्डे और राष्ट्रीय टोपियों तक की सृष्टि की है। भारतीय नवयुवकों में स्वार्थ-त्याग की इच्छा बलवती हो रही है। स्वदेश की हितकामना से कितने ही लोगों ने कारावास तक स्वीकार किया है। देश-सेवा के भाव से प्रेरित होकर कितने ही नवयुवकों ने दारिद्र-व्रत ग्रहण किया है। मातृ-भूमि के प्रति उनका यह अनुराग देख कर किसकी छाती नहीं फूल उठेगी? यदि अधिकाश लोगों में देश के प्रति ऐसा ही सच्चा प्रेम उत्पन्न हो जाय तो देश का उद्धार होना कुछ भी कठिन नहीं। परन्तु अपने को देश भक्त कहने ही से कोई देश-भक्त नहीं हो जाता। जो भाव देश के लिए सचमुच श्रेयस्कर है वही जब स्वयं महत्ता का विषय हो जाता है तब उससे देश का कल्याण नहीं होता। जब देश के प्रति आकृष्ट होकर मनुष्य उसकी सेवा में संलग्न होता है तभी

उससे लाभ हो जाता है । परन्तु जब देश-सेवा में महत्ता देखकर केवल उस महत्ता की प्राप्ति के लिए मनुष्य उद्योग करता है तब उससे देश की हानि होती है । महत्ता देश-भक्ति में नहीं, किन्तु देश भक्तों में है, स्वार्थ-त्याग में नहीं किन्तु स्वार्थ-त्यागियों में है। देश भक्ति का भाव देश भक्त से पृथक् नहीं है, वह कोई ऐसी चीज नहीं है जो बाहर से ठेल दी जाती है। जब कभी कोई उच्च-भाव बाह्य प्रेरणा से प्रचलित किया गया है तब उसका परिणाम अनिष्टकर हुआ है। भिक्षा-वृत्ति स्वीकार करने पर बौद्ध भिक्षुओं में विलासिता का भाव फैल गया है, अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करनेवाले रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के धर्म-गुरुओं में कामुकता फैल गई है । वैष्णव सम्प्रदाय के इतिहास में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है । हमें ऐसा ज्ञान पड़ता है कि आजकल देश-भक्ति महत्ता प्राप्त करने का साधन समझी जाने लगी है । देश-सेवा के कारण बुरे कृत्य भी अच्छे हो जाते हैं । देश भक्ति की मुहर पड़ते ही सब चीजें महत् हो जाती हैं। यह वह पारस पत्थर है जिसके स्पर्श मात्र से लोहा सोना हो जाता है । हिन्दी-साहित्य में देश भक्ति की सुधा से संश्लिष्ट होने के कारण कितनी ही सड़ी-गली चीजों को हम गले के नीचे उतार रहे हैं । हिन्दी के पत्रों में हमने ऐसे विज्ञापन देखे हैं जिनमें यह लिखा गया है कि अमुक पत्र के अमुक सम्पादक जेल काट आये हैं । पत्र पर उनका नाम मात्र रहने से ही पत्र अच्छा हो जाता है । यदि कोई पुस्तक-प्रकाशक देश भक्त हुआ तो आठ आने की किताब बारह आनेमें बेचकर भी देश भक्ति की दुहाई देता है । राष्ट्रीय संस्थाओं से प्रकाशित पुस्तकें मँहगी होने पर भी सस्ती बनी हैं, क्योंकि वे व्यवसाय की दृष्टि से निकाली नहीं जातीं । दो एक ऐसी भी पुस्तक-प्रकाशक मण्डलियाँ हैं जो सस्ता काम करने

सर्वथा योग्य समझते हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के सम्बन्ध में रस्किन ने लिखा है।

He mistakes his vaity for inspiration, his ambition for greatness of soul, and takes pleasure in what he calls the ideal, merely because he has neither humility nor capacity enough to comprehend the real

अर्थात् ऐसे लोग अपने मिथ्याभिमान को स्फूर्ति समझते हैं और अपनी महत्वाकांक्षा को आत्मा की श्रेष्ठता। वे आदर्श की ओर इसी लिए झुकते हैं कि उनमें यथार्थ बात समझ लेने की योग्यता नहीं है। महत् भावना के फेर में पड़ कर किसी देश की क्या दशा हो सकती है, इसका एक प्रमाण हमारा ही देश है।

भारतवर्ष में आज कल देश-भक्ति की बड़ी चर्चा हो रही है। देश भक्ति की भावना ने ही राष्ट्रीय साहित्य, राष्ट्रीय शिक्षा, राष्ट्रीय झण्डे और राष्ट्रीय टोपियों तक की सृष्टि की है। भारतीय नवयुवकों में स्वार्थ-त्याग की इच्छा बलवती हो रही है। स्वदेश की हितकामना से कितने ही लोगों ने कारावास तक स्वीकार किया है। देश-सेवा के भाव से प्रेरित होकर कितने ही नवयुवकों ने दारिद्र-व्रत ग्रहण किया है। मातृ-भूमि के प्रति उनका यह अनुराग देख कर किसकी छाती नहीं फूल उठेगी? यदि अधिकांश लोगों में देश के प्रति ऐसा ही सच्चा प्रेम उत्पन्न हो जाय तो देश का उद्धार होना कुछ भी कठिन नहीं। परन्तु अपने को देश भक्त कहने ही से कोई देश-भक्त नहीं हो जाता। जो भाव देश के लिए सचमुच श्रेयस्कर है वही जब स्वयं महत्ता का विषय हो जाता है तब उससे देश का कल्याण नहीं होता। जब देश के प्रति आकृष्ट होकर मनुष्य उसकी सेवा में संलग्न होता है तभी

ससे लाभ हो जाता है। परन्तु जब देश-सेवा में महत्ता देखकर केवल उस महत्ता की प्राप्ति के लिए मनुष्य उद्योग करता है तब उसमें देश की हानि होती है। महत्ता देशभक्ति में नहीं, किन्तु देशभक्तों में है, स्वार्थ-त्याग में नहीं किन्तु स्वार्थ त्यागियों में है। देश भक्ति का भाव देश भक्त से पृथक् नहीं है, वह कोई ऐसी चीज नहीं है जो बाहर से ठेल दी जाती है। जब कभी कोई उच्च-भाव बाह्य प्रेरणा से प्रचलित किया गया है तब सका परिणाम अनिष्टकर हुआ है। भिक्षा-वृत्ति स्वीकार करने र बौद्ध भिक्षुओं में विलासिता का भाव फैल गया है, अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत स्वीकार करनेवाले रोमन केथोलिक सम्प्रदाय के धर्म-गुरुओं में कामुकता फैल गई है। वैष्णव सम्प्रदाय के इतिहास में भी ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं है। हमें ऐसा जान पड़ता है कि आजकल देश-भक्ति महत्ता प्राप्त करने का साधन समझी जाने लगी है। देश-सेवा के कारण बुरे कृत्य भी अच्छे हो जाते हैं। देश भक्ति की मुहर पड़ते ही सब चीजें महत् हो जाती हैं। यह वह पारस पत्थर है जिसके स्पर्श मात्र से लोहा सोना हो जाता है। हिन्दी-साहित्य में देश भक्ति की सुधा से संश्लिष्ट होने के कारण कितनी ही सड़ी-गली चीजों को हम गले के नीचे उतार रहे हैं। हिन्दी के पत्रों में हमने ऐसे विज्ञापन देखे हैं जिनमें यह लिखा गया है कि अमुक पत्र के अमुक सम्पादक जेल काट आये हैं। पत्र पर उनका नाम मात्र रहने से ही पत्र अच्छा हो जाता है। यदि कोई पुस्तक-प्रकाशक देश-भक्त हुआ तो आठ आने की किताब बारह आनेमें बेचकर भी देश भक्ति की दुहाई देता है। राष्ट्रीय संस्थाओं से प्रकाशित पुस्तकें मँहगी होने पर भी सस्ती बनी हैं, क्योंकि वे व्यवसाय की दृष्टि से निकाली नहीं जातीं। दो एक ऐसी भी पुस्तक-प्रकाशक मण्डलियाँ हैं जो सस्ता काम कराने

में युवकों को स्वार्थ-त्याग का उपदेश देती हैं और किताबों को मँहगी बेचने में देश भक्ति का विज्ञापन देती हैं। हमारा विश्वास है कि हमारे देश में राजनैतिक आन्दोलन की यथेष्ट सफलता न होने का एक कारण यह है कि यहाँ स्वार्थ-त्याग के द्वारा स्वार्थ सिद्धि की जाती है।

जिस प्रकार आज-कल देश भक्ति से मुलम्मा करने का काम लिया जाता है उसी प्रकार धर्म भक्ति का भी उपयोग किया जा चुका है। हिन्दी में अश्लील से अश्लील कवितायें भक्ति के नाम से रस-साहित्य में स्थान पा चुकी हैं। उनके माधुर्य का रसास्वादन करनेवाले रसिक-भ्रमरों ने उनमें साधना की पराकाष्ठा देखी है। उनके लिए सारा संसार अन्धा है, आँखें उन्हीं की हैं। सन्तोष की बात यही है कि इस गोप्य-रस के अधिकारी कुछ ही लोग समझे जाते हैं। भगवान् इन नेत्रवानों से अन्धों की रक्षा करे।

(४)

हिन्दी में ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली की कविताओं के सम्बन्ध में अच्छी चर्चा हो चुकी है। कुछ दिन पहले पद्य-परीक्षा नाम की एक छोटी सी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। लेखक ने उसमें हिन्दी के कुछ कवियों की रचनाओं में खोज-खोज कर दोष दिखलाये थे। एकाध कवि ने उन दोषों का निराकरण करने की भी चेष्टा की है। किसी काव्य के गुण-दोष की परीक्षा करना सर्वथा उचित है। हमें उसके औचित्य के सम्बन्ध कुछ कहना नहीं है। परन्तु जो लोग साहित्य में परीक्षक का काम करते हैं उनकी कदाचित् यह धारणा हो गई है कि वे न्यायाधीश के आसन पर बैठ कर कवियों के सम्बन्ध में वह फैसला दे रहे हैं जिसकी अपील नहीं हो सकती। कुछ समालोचक तो यहाँ तक दावा

करते हैं कि वे चाहें तो समालोचना कुठार से इन कवियों को निर्मूल तक कर सकते हैं। 'साहित्य के उद्यान में समालोचक माली बन कर प्रवेश कर सकते हैं और अपने कुठार के आग वृक्षों पर आघात भी कर सकते हैं। परन्तु उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि कितने ऐसे वृक्ष हैं जो उनके आघात को सहकर भी जीवित खडे रहेंगे'। कुछ समालोचकों का यह भी विश्वास है कि वे साहित्य के क्षेत्र में ज्ञान की दलाली करते हैं अर्थात् ज्ञाना-ज्ञेय के मध्य में वे ज्ञापयिता होकर बैठते हैं। यदि पाठकों को किसी ग्रन्थकार के ज्ञान की यथार्थता के विषय में सन्देह हुआ तो उनके सन्देह को दूर करने के लिए ग्रन्थकार की सिफारिश अथवा निन्दा कर सकते हैं। बिना मूलधन के दलाली अच्छी तरह की जा सकती है। उसी तरह ज्ञान की पूँजी न रहने पर भी समालोचक ज्ञान की दलाली कर सकता है। परन्तु उस की उपयोगिता पर हमें सन्देह है। साहित्य में लोकप्रियता सदैव उत्तमता का अनुसरण नहीं करती। जो ग्रन्थ साहित्य के श्रेष्ठ रत्न हैं उन्हें पढने के लिए अथवा खरीदने के लिए संसार के छोटे-बडे सभी आदमी टूट नहीं पडते। कभी कभी यह भी देखा गया है कि समालोचकों ने जिस ग्रन्थ की प्रशंसा में वाह वाह की धूम मचा दी वह कुछ ही वर्षों में लुप्त हो गया है। इसके विपरीत कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जिन पर समालोचकों ने खूब आक्षेप किये, पर अन्त में उन्हीं का आदर हुआ। अपने जीवन-काल में कीट्स और शेली ने समालोचकों से कौन सा पुरस्कार पाया? जो समालोचक साहित्य के बाजार में ज्ञान की दलाली कर रहे थे उन्होंने वर्डस्वर्थ का कितना समादर किया? बेचारे भवभूति को ही इन छिद्रान्वेषकों से कौन सी कीर्ति मिली जिसके लिए उन्होंने काल की दुहाई दी है? सच बात यह है कि यदि किसी

की कृति में सचमुच कुछ गुण है तो उसका आदर होगा ही और यदि उसकी रचना निस्सार है तो वह कुछ समय के लिए लोकप्रिय भले ही हो जाय पर अन्त में वह उपेक्षणीय ही होगी। जातीय स्वर में स्वर मिलाकर कितने ही क्षुद्र कवि भी अपने समय में प्रशंसा पा लेते हैं, पर उनकी रचना अल्पकालीन होती है। कुछ समय के बाद लोग उसका नाम तक भूल जाते हैं। अँगरेजी में एडिसन नामक एक कवि ने अपने जीवन काल में डयूक आव मार्लबरो के विजय पर काव्य लिखकर अच्छी ख्याति प्राप्त की थी। परन्तु उसके उस काव्य का नाम तक अधिकांश लोगों को अब ज्ञात नहीं है। अस्तु।

कविता की परीक्षा में दो बातें विशेष विचारणीय हैं, एक तो (कवि का व्यक्तित्व और दूसरा उसका सन्देश।) कवि के भाव और भाषा तक पर उसके व्यक्तित्व की छाप रहती है। बात यह है कि भाषा भाव का अनुसरण करती है। इसीसे उसकी भी एक निश्चित शैली हो जाती है विशेष विशेष छन्दों पर भी उसका अधिकार हो जाता है। कालिदास की भाषा कालिदास की ही भाषा है, उस भाषा पर न तो माघ का अधिकार है और न भवभूति का। भवभूति की रचना उतनी प्रासादिक नहीं जितनी कालिदास की। परन्तु यदि भवभूति कालिदास की भाषा का अनुकरण करते तो उनकी रचना इतनी आदरणीय भी नहीं होती। हिन्दी के कुछ रसिक व्रजभाषा की प्रशंसा में सदैव निरत रहते हैं। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि जिन कवियों ने व्रजभाषा को अपना लिया था वही उसमें काव्य लिख कर यशस्वी हुए हैं। केवल व्रजभाषा का उपयोग मात्र करके वे यशस्वी नहीं हुए हैं। तुलसीदास जी बड़े भारी कवि हैं, उनकी कवित्व-शक्ति पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। परन्तु क्या

यह कहा जा सकता है कि यदि वे बिहारी की भाषा में लिखते तो वे बिहारी से बढ़ जाते अथवा यदि बिहारी सतसई न लिख कर रामचरित मानस लिखते तो वे तुलसीदास हो सकते? जो लोग किसी कवि की भाषा पर आक्षेप करते हैं वे अन्याय करते हैं। कवि ने अपनी इच्छा से जिस भाषा का उपयोग किया है उसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना व्यर्थ है। वह दोष-पूर्ण भले ही हो, पर उसी में उसकी शोभा है। कार्लाइल की भाषा में विचित्रता है, पर यह विचित्रता ही उसकी एक विशेषता है। यदि वह विशेषता नष्ट कर दी जाय तो ग्रन्थ का गौरव भी घट जाय। हिन्दी के वर्तमान कवियों में शङ्कर की भाषा पर आक्षेप किया जा सकता है। हमारी सम्मति है कि शङ्कर की कविता की एक विशेषता उनकी भाषा की विलक्षणता है। मिश्री के डले में बाँस की फाँस की तरह यह भाषा कविता के साथ मिली हुई है। यदि आप भाषा को कविता से पृथक् करना चाहेंगे तो आप मिश्री के डले से भी हाथ धो बैठेंगे।

प्रत्येक कवि को एक सन्देश देना रहता है। वह उसकी आत्मा की पुकार है, वह उसकी अनुभूति का फल है। यदि सचमुच कवि ने अपने अन्तर्जगत में किसी सत्य का अनुभव किया है तो वह उसे अवश्य प्रकट करेगा। वह सत्य संसार के प्रचलित धर्म के विरुद्ध हो, समाज के विपरीत हो, मनुष्यों के चिरकालार्जित संस्कारों के विरुद्ध हो, परन्तु कवि उसे अवश्य प्रकट करेगा। हम हिन्दी के कवियों की बात नहीं कहते। परन्तु जो सचमुच कवि हैं, जिन्होंने सचमुच आत्मानुभूति द्वारा सत्य से साक्षात्कार लाभ किया है उनके अन्तःकरण से जो उद्गार निकलेगा वह सत्य के रूप में प्रकट होगा। उनकी उक्तियाँ छन्दःशास्त्र की कसौटी पर नहीं कसी जा सकतीं और न समालोचकों के शुष्क

साँचे से उनकी कला की महत्ता नापी जा सकती है। यही नहीं, किन्तु जिस कवि को कुछ संदेश नहीं देना है, जो घड़ी भर लोगों में क्षणिक उत्तेजना फैला देना चाहता है, हास्य, करुण शृङ्गार आदि रसों की अवतारणा कर जो पाठकों के हृदय में भिन्न भिन्न भावों का उद्रेक करने में ही अपनी कृत-कृत्यता समझता है उसकी भी सफलता की कसौटी न तो छन्दः शास्त्र है और न साहित्य-शास्त्र। यह देखा गया है कि साहित्य शास्त्र के आचार्य्य जिन रचनाओं को देख कर नाक भौं सिकोड़ते हैं वही सैकड़ों पाठकों और दर्शकों के मनोरञ्जन की सामग्री होती हैं। तो क्या यह कुछ भी नहीं है? हमारी समझ में कविता की सच्ची कसौटी जनता है। जिस कविता को जितने ही अधिक लोग, जितने ही अधिक काल तक अपनावेंगे वह उतनी ही अधिक अच्छी समझी जायगी।

कुछ समय पहले रवीन्द्र बाबू ने कविता के विषय में एक लेख लिखा था। यहाँ उनके विचारों का सारांश दिया जाता है।

संसार में कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिन्हें कहीं भी कुछ अच्छा नहीं दिखाई देता। साहित्य के क्षेत्र में भी ऐसे लोगों का अभाव नहीं है। वे यही कहते फिरते हैं कि लोग कुछ भी ठीक तरह नहीं कर रहे हैं। साहित्य की दुर्दशा हो रही है। समय खराब है। परन्तु सर्वदा ऐसी दुश्चिन्तायें करते रहने पर भी वे आराम से रहते हैं। बात यह है कि जाड़े में आग की तरह दुश्चिन्ता की अग्नि भी उपकारी है, यदि वह पास रहे पर शरीर को छूने न पावे।

कविता के सम्बन्ध में अब परीक्षकों की राय है कि लोग असली वस्तु को नहीं पाते। सचमुच यह अनुचित बात है। वस्तु का तो पता नहीं, पर दाम ते दिये और खुशी से हँसने हँसने

गये, ऐसे बुद्धिहीनों के लिए एक सुयोग्य अभिभावक नियुक्त
ना ही चाहिए। अतएव लोग अब समालोचक की खोज कर
हैं। साहित्य में इस पद के लिए वही योग्य है जिसे कवि अपने
-कौशल से ठग नहीं सकता, जो पल भर में समझ जाता है
कहाँ वस्तु है और कहाँ नहीं। जो लोग असत्-साहित्य के
य में देश को सावधान कर रहे हैं वे नाबालिग पाठकों के
र कोर्ट आव् वार्ड्स का काम कर रहे हैं। पर समालोचक
तना ही विचक्षण क्यों न हो, वह चिरकाल तक पाठकों को गोद
लेकर नहीं सँभालेगा। धात्री या धृत होना किसी के पक्ष में
का नहीं। अतएव पाठकों को यह स्पष्ट रूप से समझा देना
हिए कि किसे वस्तु कहना चाहिए और किसे नहीं। मुश्किल
है कि वस्तु एक नहीं है और न सब स्थानों में हम एक ही
तु का तत्त्व ग्रहण करते हैं। मनुष्यों के स्वभाव में विभिन्नता
उनके प्रयोजन भी भिन्न भिन्न हैं। इसलिए विभिन्न वस्तुओं के
सन्धान में उन्हें घूमना पड़ता है।

अब प्रश्न यह है कि साहित्य में किस वस्तु को हम ढूँढते
। साहित्य के आचार्य कहते हैं कि वह है रस-वस्तु। कहना
हीं होगा कि रस-निरूपण के लिए एक साहित्य की ही अव
रणा की जाती है। यह रस ऐसी चीज है कि इसकी यथार्थता
विषय में विवाद होने पर लाठी चलने तक की नौबत आ
ती है और एक पक्ष अथवा दोनों पक्षों के भू-पतित होने पर भी
ई मीमांसा नहीं होती है।

रस के नाम से जो वस्तु प्रसिद्ध है वह सदैव एक रसिक
की अपेक्षा करती है। केवल अपने से वह अपने अस्तित्व को
प्रमाणित नहीं कर सकता। संसार में विद्वान, बुद्धिमान्, देश-
हितैषी, लोक हितैषी आदि कितने ही गण्य मान्य सज्जन हैं।

परन्तु जैसे दमयन्ती ने सब देवताओं को छोड़ कर नल के ही गले में जयमाला डाली थी वैसे ही रस-भारती सब को छोड़ कर केवल रसिक का अनुसन्धान करती है। समालोचक छाती तान कर और ताल ठोक कर कहेंगे, मैं ही वह रसिक हूँ। प्रतिवाद करने की हिम्मत नहीं होती। किन्तु अरसिक ने अपने को अरसिक जान लिया हो, ऐसी अभिज्ञता संसार में दिखाई देती नहीं। रस परीक्षा के लिए सभी लोग अपनी ही रुचि को अन्तिम मीमांसा समझते हैं। मूलधन न रहने से भी दलाली की जा सकती है। इसी तरह साहित्य समालोचना में भी कोई समालोचक मूलधन की अपेक्षा नहीं करता। समालोचक का पद बिलकुल निरापद होता है।

यदि साहित्य में परीक्षा का काम इतना अनिश्चित है तो साहित्य-सेवियों के लिए उपाय क्या है। यदि साहित्य-सेवी अपनी सेवा का निश्चित फल जानना चाहें तो उन्हें इसका भार अपने प्रपौत्र पर देना पड़ेगा। परन्तु वे चाहें तो एक काम कर सकते हैं। वह यह कि जो लोग उनकी रचना को पसन्द करें उन्हीं को वे कविता के मर्मज्ञ मानें। दूसरे लोगों को वे समझदारों की पङ्क्ति में बैठावें ही मत। ऐसे विचारालय पास तो हैं नहीं जहाँ दूसरे पक्ष के लोग नालिश कर सकते हैं। यह सच है कि काल की अदालत में इसका विचार होता रहता है। परन्तु इस दीवानी अदालत की तरह दीर्घसूत्री अदालत अंगरेजों के भी मुल्क में नहीं। काल का प्यादा जिस दिन ख्याति की सीमा से उनकी कीर्ति के खम्भे उखाड़ देने के लिए आवेगा उस दिन के लिए समालोचक अपेक्षा नहीं कर सकते।

सचमुच रस का एक आधार है। पर क्या रस की वस्तु का वजन निकाल लेने से साहित्य का दाम जाँचा जा सकता है

रस के भीतर एक नित्यता है। प्राचीन काल में मनुष्य जिस रस का उपभोग कर चुके हैं उसका अभाव आज भी नहीं है। किन्तु वस्तु की दर बाजार के अनुसार सुबह शाम बदलती रहती है।

तब कवियों का अवलम्बन क्या है? वह है कवि की आन्तरिक अनुभूति और आत्मप्रसाद। साहित्य के बाजार में कविता वस्तु की दर घटती बढती है। वहाँ भिन्न भिन्न आचार्यों के भिन्न भिन्न मत, भिन्न भिन्न पाठकों की भिन्न भिन्न रुचि, भिन्न भिन्न कालों के भिन्न भिन्न फैशन होते हैं। यदि कवि इनमें फँसा तो उसका काव्य बाजारू हो जायगा। कवि के हृदय में जो ध्रुव आदर्श वर्तमान है उसी के ऊपर उसे निर्भर होना चाहिए। वह आदर्श हिन्दू या अगरेज का आदर्श नहीं है। कवि जानते हैं कि जो उनके लिए सत्य है वह दूसरे के लिए मिथ्या नहीं है। यदि वह किसी के लिए मिथ्या है तो वह मिथ्या ही मिथ्या है। जो लोग आँख मूँद कर बैठते हैं उनके लिए जैसे प्रकाश मिथ्या है वैसे ही यह भी मिथ्या है। अपनी कृति की वास्तविकता के विषय में कवि ही प्रमाण हैं। उस प्रमाण की अनुभूति सबको नहीं हो सकती। अतएव विचारक के आसन पर बैठ कर जिसकी जैसी ख़ुशी हो वैसी राय वह दे सकता है। पर डिक्री होने के मौके में वही कामयाब हो, यह कोई बात नहीं है।

१—कवि-परिचय

अमरीका के एक प्रसिद्ध कवि वाल्ट ह्विटमैन ने अपनी रचना के विषय में कहा है—यह ग्रन्थ नहीं है। जो इसे स्पर्श करता है, वह एक मनुष्य को स्पर्श करता है। बात भी यही है। काव्य में कवि की आत्मा अन्तर्हित रहती है। जब हम किसी कवि की रचना को उठाते हैं तब वह मानो सदेह उपस्थित हो जाता है। परन्तु इतना तो सभी स्वीकार करेंगे कि कवि अपनी कृति में बिल कुल छिपा रहता है, इतना छिपा रहता है कि उस पर हमारी दृष्टि तक नहीं जाती। हम काव्य में तो तल्लीन हो जाते हैं, परन्तु कवि को भूल सा जाते हैं। रामायण पढते समय हमारी सहानु भूति रामायण के भिन्न भिन्न पात्रों के प्रति रहती है, रामायण के रचयिता के प्रति नहीं। कवि का यह कितना बडा आत्म-त्याग है। वह अपने जीवन में न जाने कितना दुःख-सुख सहता है। वह भी मनुष्य है। क्या उसे अपने जीवन काल में शारीरिक और मानसिक यातनायें न सहनी पडती होंगी, क्या वह कभी आपत्ति ग्रस्त न होता होगा? क्या उसमें हर्ष, और विस्मय, भय और क्रोध, ईर्ष्या और प्रेम, निराशा और गर्व के भाव न उठते होंगे। परन्तु वह अपने हृदय के ऐसे भावों को छिपा लेता है। हम

दुष्यन्त और शकुन्तला के भिन्न भिन्न भावों के उत्थान पतन को विलकुल स्पष्ट देख लेते हैं। हम उनके अन्तस्तल तक को देख लेते हैं और वे हमसे इतने परिचित हो जाते हैं कि हम फिर उन्हें कभी नहीं भूल सकते। उनकी स्मृति अक्षय हो जाती है। परन्तु जो कवि उनके लिए मनुष्यों के हृदय में यह अक्षय स्मृति मन्दिर बन जाता है वह स्वयं सर्वथा अज्ञात बना रहता है। हिन्दू-समाज में सीता और राम की अक्षय प्रतिष्ठा करने वाले वाल्मीकि की जीवन-कथा दो एक किंवदन्तियों में विद्यमान है। किसी ने कवि की प्रशंसा में यह यथार्थ ही लिखा है कि कवि अपने जीवन-सागर को मन्थन कर जो अमृत निकालता है उसे तो वह संसार को दे डालता है और विष वह स्वयं पी जाता है।

कवि अपने विषय के निरूपण में ही सदैव व्यस्त रहता है। उसकी कृति देखने से यही प्रतीत होता है कि उसका सम्बन्ध इह लोक से कम और कल्पना-लोक से अधिक है। उसका जीवन रहस्यमय प्रकट होता है। यही कारण है कि कभी कभी हम लोगों को यह भी कौतूहल होता है कि हम उसे इहलोक में भी देखें। कवि भी कभी कभी अपने विषय में कुछ लिख जाता है। ऐसी अवस्था में वह जो कुछ लिखता है वह उसके अन्तःकरण का प्रतिबिम्ब होता है। उस समय वह कवि नहीं रहता, मनुष्य हो जाता है। भावों के वशीभूत कौन नहीं होता? कवि भी तो मनुष्य है। दुःख पड़ने पर वह ईश्वर को स्मरण करता है। अन्याय से पीडित होने पर वह क्रोध के आवेश में अपने हृदय के भाव को छिपा नहीं सकता। हर्षातिरेक में उसके हृदय से आनन्दोद्गार निकल पड़ते हैं। अवसर मिलने पर वह अपने विरोधियों पर व्यङ्ग्य-बाण छोड़ने में नहीं चूकता। अन्याय होने से वह उग्र हो जाता है। लोगों की अनुचित अवहेलना और

विरोध सहकर वह उनका तिरस्कार करता है। कभी वह अहम्मन्य श्रीमानों की निन्दा करता है और कभी वह अपने सुहृज्जनों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। कभी वह निराश हो जाता है और कभी वह अपनी अन्तर्निहित शक्ति का अनुभव कर उसकी परीक्षा के लिए संसार का आह्वान करता है। ऐसे ही समय वह गर्वोक्तियाँ कहता है। सभी देशों के कवियों ने अपनी कविताओं में ऐसे मनोभाव प्रकट किये हैं। हिन्दी में भी कितने ही कवियों ने अपने काव्यों में अपना आत्मपरिचय दिया है। अधिकांश कवियों ने अपने आत्म-परिचय में अपना खूब यशोगान किया है। ऐसे कवियों की उक्तियों से उनका मिथ्याभिमान प्रकट होता है। ऐसे ही कवि जब अपने विरोधियों पर आक्षेप करते हैं तब वे मर्यादा तक का उल्लङ्घन कर डालते हैं। कवियों को न आत्म प्रशंसा शोभा देती है और न कालुष्यपूर्ण उद्गार। परन्तु सभी कवि ऐसे नहीं। कुछ कवियों की उक्तियाँ ऐसी सरस और मर्मस्पर्शी हैं कि उन्हें भूल जाना असम्भव है। उन्हें पढ़कर हम कवि की अन्तर्भावना से बिलकुल अवगत हो जाते हैं और उससे उस कवि पर हमारी श्रद्धा बढ़ जाती है।

चन्द हिन्दी के आदि-कवि माने जाते हैं। विद्वानों की राय है कि उनका जन्म काल सन् ११२८ है। उनके विषय में यह भी कहा जाता है कि वे प्राय ६५ वर्ष तक जीवित रहे। उनका जीवन-काल दिल्लीश्वर महाराज पृथ्वीराज की राज-सभा में व्यतीत हुआ। कौन कह सकता है कि इस दीर्घकाल में उनके विरुद्ध कितने षड्यन्त्र न रचे गये होंगे। वे राज-कवि थे और महाराज पृथ्वीराज के प्रेमपात्र थे। राजाओं के कृपापात्रों पर विरोधियों की सदैव कुदृष्टि रहती है। यह सम्भव नहीं कि चन्द

कवि का विरोधी कोई भी न रहा हो। ऐसे ही विरोधियों के सम्बन्ध में चन्द कवि ने लिखा है—

सरस-काव्य रचना रचौ, खल जन सुनि न हसन्त।
जैसे सिन्धुर देखि मग, स्वान सुभाव भुसन्त॥

इससे प्रकट होता है कि चन्द को अपने निन्दकों की परवा नहीं थी। उन्हें अपनी कवित्व शक्ति पर पूरा विश्वास था। परन्तु चन्द कविता की महत्ता को ख़ूब समझते थे। वे जानते थे कि कवि का पद बड़ा ऊँचा है। उन्होंने अपनी कविता के सम्बन्ध में लिखा है—

कवी कित्ति कित्ता उकत्ती सुदिख्खी।
तिनें की उचिष्टी कवी चन्द भख्खी॥

चन्द ने अपनी कविता को अपने पूर्ववर्ती कवियों का उच्छिष्ट कहा है। उसका कारण यह है कि कविता के सम्बन्ध में उनकी धारणा बड़ी ऊँची थी—

सबद ब्रह्म इह सत्ति। अपर पावन कहि निर्मल॥
जिहित सबद नहिं रूप। रेख आकार बर्न नहिं॥
अकल अगाध अपार। पार पावन त्रयपुर महि॥
तिहि सबद ब्रह्म रचना करौं। गुरु प्रसाद सरसैं प्रसन॥
जदपि सुउकति चूकौ जुगति। तौं कमल बदनि कवि तह हँसन॥

चन्द की इस उक्ति का समर्थन कौन नहीं करेगा।

हिन्दी के आदि-काल में जितने सन्तों ने अपने उपदेशों को पद्य-बद्ध किया है उनमें कबीर सबसे प्रधान हैं। उनका जन्म उस काल में हुआ था जब ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध भारत में आन्दोलन हो रहा था। हिन्दू-समाज में धर्म की जो कृत्रिम मर्यादा बना दी गई थी उसके कारण समाज बड़ा सङ्कुचित हो गया था। धर्म केवल स्मृति-शास्त्र का अनुशासन रह गया था

ौर सदाचार आडम्बर। कबीर नीच कुलोत्पन्न थे। अतएव उन्हें ोई भी ब्राह्मण धर्म का उपदेष्टा नहीं स्वीकार करता था। कबीर तत्कालीन प्रचलित भाषा में धर्मोपदेश किया करते थे और उस समय धर्म के सभी अनुशासन संस्कृत भाषा में बद्ध थे। कबीर ने ब्राह्मणों के इस धर्माधिकार पर और संस्कृत के एकाधिपत्य पर सदैव आक्षेप किया है —

मेरा तेरा मनुवा कैसे एक होय रे।
मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी,
मैं कहता सुरझावन हारी, तू राखो उरझाय रे।

दूसरी जगह उन्होंने कहा है —

संस्कृतहिं पण्डित कहै, बहुत करै अभिमान।
भाषा जानि तरक करै, ते नर मूढ अजान॥
कबीर बाम्हन बूड़िया, जनेऊ केरे जोरि।
लख चौरासी माँगि लई, सतगुरु सेती तोरि॥
कलि का बाम्हन मसखरा, ताहि न दीजै दान।
कुटुम्ब सहित नरकै चला, साथ लिया जजमान॥
पण्डित और मसालची, दोनों सूझै नाहिं।
औरन को करैं चाँदना, आप अँधेरे माँहिं॥

विरोधियों ने कबीर के नीच कुल पर अवश्य आक्षेप किया होगा। परन्तु कबीर ने बड़े गर्व से अपने कुल का उल्लेख किया है —

तू बाम्हन मैं कासी का जुलहा, बूझो मोर गियाना।

एक दूसरी जगह उन्होंने कहा है —

कासी का मैं बासी बाम्हन, नाम मेरा परबीना।
एक बार हरिनाम बिसारा, पकर जुलाहा कीन्हा।

कबीर सन्त थे। उनका अन्तःकरण पवित्र था। पवित्रात्मा

में ही ज्ञान की ज्योति स्वय झलक आती है। यह ज्ञान साधना का फल है, विद्या का नहीं। अतएव कबीर ने कहा है —

मसि कागज छुयो नहिं, कलम गहो नाह हाथ।
चारऊ जुग का महातम, कबिरा मुखहि जनाई बात॥

सूरदास के विषय में विद्वानो की यह राय है कि उनका जन्म लगभग सन् १४८४ में हुआ और सन् १५६४ में उनका देहावसान हुआ। उनके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि उनकी दृष्टि-शक्ति नष्ट हो गई थी। सूरदास ने अपनी दृष्टि-शक्ति नष्ट हो जाने पर कहा है —

रहो सूरजचन्द दृग ते हीन भर भर शोक॥
परो कूप पुकार काहू सुनी न ससार।
सातयें दिन आइ यदुपति कियो आप उधार॥
दियो चख दे कही शिशु सुनु माँग वर जो जाइ।
हौं कहौं प्रभु भगत चाहत शत्रुनाश सुभाइ॥
दूसरों ना रूप देखौं देखि राधा श्याम।
सुनत करुणासिन्धु भाषी एवमस्तु सुधाम॥

और तभी से उनकी समस्त इन्द्रियाँ हरि की ही ओर आकृष्ट हुईं।

सोइ रसना जो हरिगुण गावै।
नैनन की छवि यहै चतुरता ज्यों मकरन्द मुकुन्दहि ध्यावै॥
निर्मल चित्त तौ सोई साँचो कृष्ण बिना जिय और न भावै।
श्रवणनि की जु यहै अधिकाई सुनि रस कथा सुधा रस प्यावै॥
कर तेई जो श्यामहिं सेवैं चरणनि चलि वृन्दावन जावै।
सूरदास जैये बलि ताके जो हरि जू से प्रीति बढावै॥

सूरदास के गुरु श्रीवल्लभाचार्य थे। अपने गुरु पर उनकी अपार भक्ति थी। अपने गुरु के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है —

भरोसो दृढ इन चरनन केरो।
श्रीवल्लभ नख चन्द्र छटा बिन, सब जग माँझ अँधेरो।
साधन और नहीं या कलि में, जासो होत निवेरो।
सूर कहा कहि दुविधि आँधरो, बिना मोल को चेरो॥

कहा जाता है कि अन्त में किसी ने उनसे नेत्र की वृत्ति के सम्बन्ध में पूछा है। उसके उत्तर में उन्होंने कहा —

खञ्जन नैन रूप-रस माते।
अतिसै चारु चपल अनिआरे, पल पिंजरा न समाते॥
चलि चलि जात निकट स्रवनन के, उलटि पलटि ताटङ्क फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नतर अबहि उड़ि जाते॥

दादू जी का जन्म सन् १५४४ में हुआ था और सन् १६०४ में वे परमगति को प्राप्त हुए। एक ही पद में उन्होंने अपना मत प्रकट कर दिया है :—

भाई रे ऐसा पन्थ हमारा।
द्वै पख रहित पन्थ गहि पूरा अबरण एक अधारा।
वाद विवाद काहू सौं नाहीं माहिं जगत थैं न्यारा।
समदृष्टी सूँ भाई सहज मैं आपहि आप विचारा।
मैं, तें मेरी यहु मत नाहीं निरवैरी निरविकारा।
पूरण सबै देखि आपा पर निरालम्ब निरधारा।
काहू के संगी मोह न ममिता संगी सिरजनहारा।
मन ही मन सूँ समझि सयाना आनँद एक अपारा॥
काम कल्पना कदे न कीजे पूरण ब्रह्म पियारा॥
इहि पथ पहुँचि पार गहि दादू सो तत सहजि सँभारा॥

गोस्वामी तुलसीदास जी हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। उनका रामचरितमानस हिन्दी साहित्य का सर्वस्व है। उनका जन्मकाल सन् १५३३ बताया जाता है और उनके मृत्यु

काल के विषय में यह दोहा प्रसिद्ध है —

संवत् सोलह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ शरीर॥

अपने जीवन के विषय में उन्होंने कहा है —

मातु-पिता जग जाय तज्यो
विधि हू न लिख्यो कछु भाल भलाई।
नीच निरादर भाजन कादर
कूकर टूकनि लागि ललाई॥
राम सुभाव सुन्यो तुलसी
प्रभु सों कह्यो बारक पेट खलाई।
स्वारथ को परमारथ को
रघुनाथ सो साहिब खोरि न लाई॥

उपर्युक्त पद्य में गोस्वामी जी ने अपनी दीनावस्था के साथ अपनी भक्ति का ऐसा पवित्र चित्र अङ्कित किया है कि उन दोनों में कोई भेद ही नहीं जान पड़ता है। ऐसा जान पड़ता है कि भक्ति के लिए दैन्यावस्था ही आवश्यक है —

जायो कुल मगन बधावनो बजायो सुनि
भयो परिताप पाप जननी जनक को।
बारेते ललात बिललात द्वार द्वार दीन
जानत हो चारि फल चारिहिं चनक को॥

अपनी कविता के सम्बन्ध में उन्होंने स्पष्ट कहा है—

भाषा भनित मोर मति थोरी।
हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी॥

जान पड़ता है कि तुलसीदास जी भी निन्दकों की कटूक्तियों से नहीं बचे। तभी तो उन्होंने खल-वन्दना में उनके स्वभाव का चित्र अङ्कित कर दिया है। परन्तु गोस्वामी जी यह जानते थे कि

उनकी कविता का कभी निरादर नहीं हो सकता। उन्हें विश्वास था कि सभी लोग उनकी कविता का आदर करेंगे, नहीं तो वे यह न लिखते—

> जो प्रबन्ध बुध नहिं आदरहीं।
> सो श्रम बादि बाल कवि करहीं॥

केशवदासजी बीरबल के कृपापात्र थे। केशवदासजी के समय से हिन्दी-साहित्य में कविता का स्रोत बदल गया। उसमें भाव-सौष्ठव की अपेक्षा कला-सौष्ठव पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। केशवदासजी इसके प्रवर्त्तक थे। वे कविता के आचार्य थे और एक प्रकार से वे हिन्दी के प्रथम आचार्य कहे जा सकते हैं। मुगल-काल में कवियों का यथेष्ट आदर होने लगा। बड़े बड़े श्रीमानों ने कवियों को अपनी सभा में सादर स्थान दिया। इसका फल यह हुआ कि कवि जनता के कवि न होकर सभा के कवि हो गये। अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में सदैव ऐसी अतिशयोक्ति से काम लिया है कि उनकी प्रशंसा चाटुकारिता हो जाती है। ऐसी अतिशयोक्तियों से आश्रयदाता श्रीमानों को भले ही आत्म तुष्टि हो, परन्तु उनसे इतना अवश्य प्रकट हो जाता है कि कवि अपने उच्च आदर्श से च्युत हो गये हैं। केशवदास ने बीरबल की प्रशंसा में कहा है—

> केशवदास के भाल लिख्यो विधि
> रंक को अंक बनाय सँवारयो।
> छोड़े छुट्यो नहिं धोये धुयो,
> बहु तीरथ के जल जाय पखारयो॥
> ह्वै गयो रंक ते राउ तबी
> जब बीर बली बलबीर निहारयो।

भूलि गयो जग की रचना,

चतुरानन बाय रह्यो मुख चार्यो ॥

उपर्युक्त पद्य से केशवदासजी की कवित्व शक्ति अवश्य विदित होती है। परन्तु उनके परवर्ती कवियों ने उन्हीं का अनुकरण कर अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा में विलक्षणता लाने के लिए विचित्र विचित्र कल्पनायें की हैं, जिनसे कृतज्ञता का भाव नहीं, चाटुकारिता का भाव प्रकट होता है।

केशवदासजी के समय में हिन्दी के कवियों के प्रति विद्वानों का विशेष आदर-भाव नहीं था। स्वयं केशवदासजी को अपनी रचना के विषय में लज्जा थी। नहीं तो केशवदासजी यह न कहते—

केशव तुरङ्गारण्य में नदी बेतवे तीर।
नगर ओड़छो बहु बसे पंडित मंडित भीर ॥
तहाँ प्रकाश सो निवासु मिश्र-कृष्णदत्त को।
अनेक पंडिताग्रणी सुदास विष्णु भक्त को ॥
सुकासिनाथ तासु पुत्र विप्र काशिनाथ को।
सनाढ्य कुम्भवार अस वंस वेदव्यास को ॥
तिनके केशवदास सुत, भाषा कवि मति मन्द।

एक दूसरी जगह भी उन्होंने यही बात लिखी है—

उपज्यो तेहि कुल मंद मति सठ कवि केशवदास।
रामचन्द्र की चन्द्रिका भाषा करी प्रकास ॥
भाषा बोलि न जानहीं जिनके कुल के दास।
भाषा कवि भो मदमति तेहि कुल केशवदास ॥

हिन्दी में कितने ही मुसलमान कवियों ने रचनायें की हैं। उनमें रसखान की कविता विशेष लोकप्रिय है। प्रेम-वाटिका नामक ग्रन्थ में उन्होंने अपने विषय में लिखा है—

देखि गदर हित साहबी,
दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा बंस की,
ठसक छोड़ि रसखान॥

कृष्ण के प्रति उनकी अगाध भक्ति थी। उसी भक्ति के आवेश में आकर उन्होंने वैष्णव धर्म को स्वीकार कर लिया था। उन्होंने इस सम्बन्ध में लिखा है—

तोरि मानिनी तें हियो, फोरि मोहिनी मान।
प्रेम देव की छबिहिं लखि, भये मियाँ रसखान॥

प्रेम की यह छवि देख लेने पर भला रसखान को क्यों न यह अभिलाषा होती—

मानुष हो तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पसु हो तौ कहा बसु मेरो चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हों तौ वही गिरि को, जो धरयो कर छत्र पुरन्दर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन॥

बिहारीलाल जी के विषय में इतना ही प्रसिद्ध है कि वे महाराज जयसिंह के सभा-कवि थे। अपने विषय में उन्होंने सतसई के अन्त में लिखा है—

जनम लियो द्विजराज-कुल, सुबस बसे ब्रज आय।
मेरो हरो कलेस सब, केसव केसवराय॥

बिहारीलालजी का जीवन-काल राजसभा में व्यतीत हुआ था। उन्हें राज-सभा का पूरा अनुभव था। उन्होंने अपने अनुभव को अपनी कविताओं में प्रकट किया है। यदि उन्होंने श्रीमानों के वैभव और उनकी उदारता आदि गुणों की प्रशंसा की है तो उन्होंने उनकी विलास-प्रियता और दाम्भिकता [illegible] णों की निन्दा भी की है। उनके विषय में यह एक प्र[illegible] है कि

जब राजा जयसिंह विलास में पड़ कर कर्तव्य से पराङ्मुख हो गये थे तब उन्होंने निम्नलिखित पद्य से उनको चेतावनी दी थी—

नहिं पराग नहिं मधुर रस, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बिधो, आगे कौन हवाल॥

यह चेतावनी तो बड़ी कोमल है, परन्तु उन्होंने श्रीमानों की मदान्धता की सदैव तीव्र निन्दा की है।

कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात है, यह पाये बौराय॥

कितने ही श्रीमान् दुर्गुणों से युक्त होने पर भी यश के इच्छुक होते हैं। उनके सम्बन्ध में कवि का यह दोहा बिलकुल उपयुक्त है —

बड़े न हूजे गुननि बिनु, बिरद बड़ाई पाय।
कनक धतूरे सों कहत, गहनों गढ़ो न जाय॥

राज-सभा में सभी तरह के लोग रहते हैं। सम्भव है कि कुछ लोग बिहारी के निन्दक रहे हों, उन्होंने उनकी कविता की उपेक्षा की हो। ऐसे लोगों के विषय में उन्होंने बड़ी अच्छी उक्तियाँ कही हैं —

सीतलता रस बास की, घटै न महिमा मूर।
पीनसवारे जो तजैं, सोरा जानि कपूर॥
कर लै सूँघि सराहि कै, रहै सबै गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब के, गँवई गाहक कौन॥
चले जाहु ह्याँ को करत, हाथिन को ब्योपार।
नहिं जानत या पुर बसत, धोबी और कुम्हार॥

जान पड़ता है कि उन्हें अपने जीवन-काल के अन्त में भ

बाधा से ग्रस्त होना पड़ा। उनकी निम्न लिखित उक्तियों से यही बात प्रकट होती है।

मेरी भवबाधा हरौ, राधानागरि सोय।
जा तन की झाईं परे, स्याम हरित दुति होय॥
को छूट्यो इहि जाल परि, कत कुरंग अकुलात।
ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहत, त्यों त्यों उरझत जात॥

फिर भी उन्हें आशा थी—

इहि आशा अटक्यो रहै, अलि गुलाब के मूल।
ह्वै हैं बहुरि बसन्त रितु, इन डारनि वे फूल॥

कहा नहीं जा सकता कि उनके जीवन में फिर वसन्त आया या नहीं। परन्तु उनके पद्यों से यह प्रकट होता है कि उन्हें संसार और सांसारिक वभव से विरक्ति हो गई थी—

यह बिरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहन नाव चढाय जिन, कीन्हें पार पयोधि॥
कोऊ कोरिक संग्रहो, कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति यदुपति सदा, विपति विदारनहार॥

भूषण और मतिराम दोनों भाई थे। दोनों ही सत्कवि थे और दोनों ने राजाओं से कविता द्वारा मान और वभव पाया और दोनों ने अपने आश्रय दाताओं की मनस्तुष्टि के लिए रचनायें कीं। भूषण जातीय कवि कहे जाते हैं। परन्तु शिवा जी, साहू और छत्रसाल की प्रशंसा और औरङ्गजेब की निन्दा करने से कोई जातीय कवि नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि स्वयं शिवाजी और छत्रसाल अपने अपने देश के उद्धारक थे। उनकी कीर्ति का वर्णन करना सर्वथा उचित है परन्तु भूषण की रचना में वे भाव नहीं हैं जिससे जाति जाग्रत हो सकती है। वे जाति के प्रतिनिधि नहीं कहे जा सकते। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी

कवित्व-शक्ति असाधारण थी। परन्तु यह भी निस्सन्देह है कि उस शक्ति का उच्चतम विकास उनकी कविताओं में नहीं हुआ। क्या निम्नलिखित पद्यों से किसी में देश-भक्ति का सञ्चार हो सकता है या जातीयता के भाव जाग्रत हो सकते हैं ?

गाजत अखंड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयंद दिग्गजन हिये साल को।
जाहि के प्रताप सों मलीन आफताप होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को॥
साजि सजि गज तुरी पैदर कतार दीन्हे,
'भूपण' भजत ऐसो दीन प्रतिपाल को ?

× × ×

बलख बुखारे मुलतान लौं हहर पारे,
कपि लौं पुकारे कोऊ धरत न सार है।
रूम रूँदि डारे खुरासान खूँदि मारे खाक,
खादर-लौ झारे ऐसी साहु की बहार है॥
कक्कर लौं चक्कर लौं मक्कर लौं चले जात,
टक्कर लेवया कोऊ वार है न पार है।
भूपन सिरोज लौं परावने परत फेरि,
दिल्ली पर परति परिंदन की छार है॥
चकित चकित्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार
दिल्ली दहसति चितै चाह करखति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुर-पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है॥
थर थर काँपत कुतुबसाह गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।

राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती दरकति है॥

मतिराम भूषण के छोटे भाई कहे गये हैं। ये बूँदी के महाराज भावसिंह के आश्रय में रहे। उन्हीं के मनोविनोद के लिए और उन्हीं की प्रशंसा से पूर्ण उन्होंने ललित ललाम नामक ग्रन्थ की रचना की है। एक दूसरे श्रीमान् महाराज शम्भुनाथ का आश्रय ग्रहण करने पर उन्होंने उन्हीं के नाम से एक ग्रन्थ बनाया। कहना नहीं होगा कि ऐसे ग्रन्थों में कवि अपने हृदय के सच्चे भावों को नहीं प्रकट करता। मतिराम ने भाऊ की जो प्रशंसा निम्नलिखित पद्य में की है वह क्या उनके हृदय का सच्चा भाव था?

सूबनि को मेटि दिली-दल दलिबे को चमू
सुभट समूहनि सिवा की उमहनि है।
कहै मतिराम ताहि रोकिबे को सगर मैं,
काहू के न हिम्मति हिये मैं उलहति है॥
सत्रसाल-नंद के प्रताप की लपट सब
गरबी गनीम बरगीन को दहनि है।
पति पातसाह की इजति उमरावन की,
राखी रैया राव भावसिंह की रहनि है॥

मतिराम की तरह देवजी सभा-कवि थे। उन्होंने भी अपने आश्रयदाता की प्रशंसा की है और इनकी भी रचना शृङ्गार रस से पूर्ण है। परन्तु हमारी समझ में देवजी ने अपने अन्तःकरण का सच्चा भाव प्रकट किया है। निम्नलिखित पद्य में उन्होंने अपने एक आश्रयदाता की प्रशंसा की है। उसमें भोगीलाल की गुणज्ञता की प्रशंसा है। और जिसने देव के समान कवियों का यथोचित सम्मान किया उसे गुणज्ञ होना ही चाहिए। अतएव

देवजी ने जो कुछ लिखा है वह उनकी कृतज्ञता का द्योतक है, अनुचित प्रशंसा नहीं है।

भूलि गयो भोज, बलि विक्रम बिसरि गये
जाके आगे और तन दौरन न दीदे हैं।
राजा राउ राने उमराउ उनमाने उन
माने, निज गुन के गरव गिरवीदे हैं॥
सुबस बजाज, जाके सौदागर-सुकवि
चलेई आवें दसहूँ दिसान के उनीदे हैं।
भोगीलाल भूप लाख पाखर लिवैया जिन
लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं॥

देवजी की शृङ्गार-रस में विशेषता है। उन्होंने नायक-नायिका के रूप में श्रीकृष्ण और राधा जी का विशेष लक्ष्य रक्खा है।

सत्य रसायन कविन को, श्रीराधा हरि सेव॥
माया देवी नायिका नायक पुरुष आप।
सबै दम्पतिन में प्रकट, देव करै तेहि जाप॥

इसीसे वे यह कह सके।

औचक अगाध सिंधु स्याही को उमडि आयो,
तामें तीनो लोक बूड़ि गये एक संग में।
कारे कारे आखर लिखे जु कारे कागद,
सुन्यारे करि बाँचै कौन जाँचे चित्त भग में॥
आँखिन में तिमिर-अमावस की रैनि जिमि,
जम्बू रस बुन्द जमुना-जल तरंग में
यों ही मन मेरो मेरे काम को न रह्यो माई,
स्याम रंग ह्वै करि समान्यो स्याम रंग में॥

कविता के सम्बन्ध में देव की बड़ी ऊँची धारणा थी।

जाके न काम न क्रोध विरोध न
लोभ छुवे नहिं छोभ को छाहीं।
मोह न जाहि रहे जग बाहिर
मोल जवाहिरता अति चाहीं॥
बानी पुनीत ज्यों देव धुनी रस
नारद सारद के गुन गाहीं।
सील ससी सविता छबिता
कवि ताहि रहे कविताहि सराहीं॥

पद्माकर मध्ययुग के अन्तिम कवि कहे जा सकते हैं। उन्होंने भी कितने ही राजाओं से यश और धन दोनों प्राप्त किये और उसके बदले उनकी प्रशंसा भी खूब की। महाराज रघुनाथ राव के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है।

सपत सुमेर की कुबेर की जु पावे ताहि
तुरत लुटावत विलम्ब उर धारै ना।
कहै पद्माकर सु हेम हय हाथिन के
हलके हजारन को वितर विचारै ना॥
गंज गज बकस महीप रघुनाथराव
याही गज धोके कहूँ काहू देय डारै ना।
याही डर गिरजा गजानन को गोय रही
गिरि ते गरे ते निज गोद ते उतारै ना॥

दौलत राव सिंधिया की प्रशंसा में यह लिखा है —

मीनगढ़ बम्बई सुमद मदराज बंग
बन्दर को बन्द कर बन्दर बसावैगो।
कहै पद्माकर कसकि कासमीर हू को
पिंजर सो घेर के कलिंजर छुड़ावैगो॥

बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबूँ
साजि दल पकरि फिरंगिन को दाबैगो।
दिल्ली दह पट्ट पटना हूँ को झपट्ट कर
कबहूँ कलत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो ॥

परन्तु निम्नलिखित पद्य में उन्होंने जैसा अपना आत्म-परिचय दिया है, वैसा कदाचित् किसी भी कवि ने नहीं दिया है—

भट्ट तिलंगाने को बुंदेलखंड वासी नृप
सुजस प्रकासी पद्माकर सुनामा हो।
जोरत कवित्त छन्द छप्पय अनेक भाँति
संस्कृत प्राकृत पढे इ-गुन-ग्रामा हो॥
हय रथ पालकी गयंद गृह ग्राम चारु
आखर लगाये लेत लाखन को सामा हो।
मेरे जान मेरे तुम कान्ह हो जगतसिंह
तेरे जान तेरो वह विप्र मैं सुदामा हौं॥

उपर्युक्त पद्य में पद्माकर ने अपनी विद्वत्ता और वैभव और अपने आश्रय-दाता की उदारता के साथ ही अपनी दीनता को बड़े अच्छे ढङ्ग से व्यक्त किया है। कृतज्ञता-द्योतक ऐसा पद्य कदाचित् हिन्दी में दूसरा नहीं है।

जिस कवि ने राज-वैभव का पूरी तरह अनुभव किया वह किस भाव की प्रेरणा से यह लिख गया—और मन औरे तन औरे बन है गयो। क्या यह सूचित नहीं करता कि उन्हें सांसारिक वैभव से कुछ विरक्ति हो गई थी। सच तो यह है कि पद्माकर के अन्तःकरण का आभास हमें उन्हीं पद्यों में मिलता है जहाँ उन्होंने अपने आश्रयदाता को छोड़कर अपने जन्मदाता जगदीश्वर का स्मरण किया है—

> राखत हैं राखगे रखैया रघुनाथ जन,
> आपने की बात सदा राखते ही आये हैं।

अब हम आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ कवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी का आत्म-परिचय लिखकर लेख समाप्त करते हैं। हरिश्चन्द्रजी ने अपने हृदय के भावों को बड़ी स्वतन्त्रता से प्रकट किया है। अपने विषय में उन्होंने लिखा है—

> जो गुन नृप हरिचन्द्र में जग हित सुनियत कान।
> सो सब कवि हरिचन्द में लखहु, प्रतच्छ सुजान॥

एक दूसरी जगह अपने हृदय का चित्र सा अङ्कित कर दिया है—

> सेवक गुनी जन के चाकर चतुर के हैं
> कविन के मीत चित हित गुन गानी के।
> सीधेन सो सीधे महा बाँके हम बाँकेन सो
> हरिचन्द नगद दमाद अभिमानी के॥
> चाहिबे की चाह काहू की न परवाह नेही
> नेह के दिवाने सदा सूरत निवानी के।
> सरबस रसिक सुदास दास प्रेमिन के
> सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के॥

ऐसे ही सत्कवियों के सम्बन्ध में किसी ने कहा है—

> जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धा कवीश्वरा।
> नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

२—हिन्दी काव्य

यह हिन्दी-साहित्य की विशेपता है कि वह अपने जन्म-काल से आज तक जन समाज से ही आदर पाता रहा है। विद्वानों ने उसकी सदैव उपेक्षा ही की है। यह सच है कि दो-चार नरेशों ने हिन्दी के कवियों को आश्रय दिया और उनका यथेष्ट सम्मान किया, परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी-साहित्य विद्वत्-सभा में आदरणीय था। भापा की रचनाओं के प्रति विद्वानों का कितना अनुराग था, यह कबीर, तुलसीदास, जायसी आदि कवियों की उन उक्तियों से प्रकट हो जाता है जिनमें उन्होंने विद्वानों से यह प्रार्थना की है कि वे भापा का विचार न कर भाव को ग्रहण करें। हिन्दी-साहित्य के आचार्य केशवदास तक को, जान पड़ता है, भापा के कवि होने में कुछ ग्लानि अवश्य हुई थी। विद्वानों की यह उपेक्षा किसी भी साहित्य के लिए श्रेयस्कर नहीं है, क्योंकि इससे उसकी उन्नति नहीं होती। तो भी इससे हिन्दी साहित्य को एक लाभ अवश्य हुआ। वह यह कि विद्वानों के परितोप की अपेक्षा जन-समाज में उदात्त भावों की वृद्धि करना उसका एक-मात्र लक्ष्य हो गया। यही कारण है कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि कबीर, तुलसीदास और सूरदास सर्व साधारण

क कवि हैं। यहीं उनको कर्त्तव्य का उपदेश देते हैं। यहा सुख दुख में उनका साथ देते हैं। इन्हीं से उनका मनोरंजन होता है। उत्सवों और आमोद प्रमोदों में इन्हीं की सङ्गीत ध्वनि से उनकी आत्मा तृप्त होती है और इन्हीं के कारण धर्म के प्रति हिन्दू-जाति का अविचल अनुराग है।

हिन्दी में चन्द से लेकर भारतेन्दुजी तक जितने कवि हुए हैं नकी संख्या कम नहीं है। उन कवियों में किसी ने ज्ञान और क्ति के उपदेश दिये हैं, किसी ने नीति और रीति की शिक्षा दी , किसी ने वीरों की महत्ता प्रकट की है और किसी ने लौकिक और अलौकिक प्रेम के चित्र अङ्कित किये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से अधिकांश कवियों को अपनी रचना में सफलता हुई है। उनकी सफलता का सब से बडा प्रमाण यही है कि आज तक इनकी रचनाओं का आदर हो रहा है। परन्तु आज हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि हिन्दी में कवित्व-कला म लौकिक भावों का उच्चतम विकास किस प्रकार हुआ। इसलिए हमें इन सभी कवियों की कृतियों की आलोचना करनी पड़ेगी।

कवियों की प्रतिभा के विकास पर सबसे अधिक प्रभाव युग धर्म का पडता है। यह युग धर्म उनकी प्रतिभा का अवरोधक नहीं है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह उनकी कवित्व-शक्ति की सीमा निर्दिष्ट कर देता है। नदी के तट जिस प्रकार नदी के प्रवाह को रोकते नहीं, किन्तु उसकी दिशा निश्चित कर उसकी द्रुत-गति कर देते हैं उसी प्रकार युग-धर्म भी कवियों के कवित्व का लक्ष्य निर्दिष्ट कर उसका विकास ही करता है। अब विचार णीय यह है कि हिन्दी के आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल की विशेषतायें क्या हैं, जो उन युगों के सभी कवियों की रचनाओं में परिस्फुट हुई हैं।

जब भारतवर्ष में हिन्दू-साम्राज्य का गौरव लुप्त हो रहा था तब हिन्दी-साहित्य की उत्पत्ति हुई है। संस्कृत-साहित्य हिन्दू जाति के समृद्धि काल की सृष्टि है। उसमें विजय का उल्लास है और शौर्य की दीप्ति है। कवि की कल्पना-दृष्टि उस समय स्वर्ग तक जाती थी और पृथ्वी पर स्वर्गीय सौन्दर्य की रचना करती थी। उनका हर्ष-नाद दिगन्त तक व्याप्त होता था। विराट् चरित्रों की सृष्टि करने की ओर उनकी प्रवृत्ति थी। प्रेम और वासना, क्षमा और प्रतिहिंसा, अनुराग और विरक्ति ये सभी भाव उन चरित्रों का उत्कर्ष बढ़ाते थे। परन्तु जब हिन्दू-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होगया, हिन्दू-जाति की शक्ति क्षीण होने लगी और मुसलमानों के आक्रमण से वह पद-दलित होने लगी उस समय साहित्य में विराट् भावनायें स्थान नहीं पा सकतीं। चन्द हिन्दी के आदि-कवि और हिन्दू-साम्राज्य के अन्तिम कवि हैं। पृथ्वीराज के जन्म-काल में उन्होंने गौरव की घोषणा की—

भयो जनम पृथिराज दुग्ग खर हरिय शिपर गुर।
भयो भूमि भुव चाल धमकि धलमसिय अग्नि पुर॥

फिर

खुरसान थान खलभल परिय ग्रम्भपात भय प्रंभनिय।
वतालवीर विकसे मनहुँ हुङ्कारत खह देवनिय॥

और भी

करिय नविन कविचन्द छन्द अन्नेक पडढिकर।
तूं सुरपति सम कुँवर देव सामन्त समोवर॥
अग्नि कन्ह जन चंद पवन गोइन्द प्रवल बल।
धरा चद बलधीर तेज चामण्ड जलन खल॥

और वज्र के पतन के समान उस गौरव घोषणा का अन्त हुआ—

परयौ सभरी राइ दीसै उतगा ।
मनो मेर वज्री किय श्रृङ्गभृङ्गा ॥
जिनें बार बार सुरत्तान साह्यौ ।
जिनें भंजि के भीम चालुक्र गाहयो ॥
जिन भजि मैवात छ्वै बार बथ्यो ।
जिने नाहर राय गिर नार सथ्यो ॥

चन्द के बाद भाट और चारण स्वाधीनता प्रिय राजपूत-नरेशों का स्तव-गान करते रहे । जब मुगलों के पतनकाल में शिवाजी और छत्रसाल के द्वारा नव हिन्दू-राज्य की स्थापना होने लगी तब दो एक कवियों ने उनका यशोगान किया । उनकी कृतियों में विजय का दर्प अवश्य है, परन्तु स्वाधीनता का भैरव-नाद नहीं है । शिवाजी के विजय से भूषण को उल्लास नहीं हुआ, किन्तु हिन्दू जाति के पराभव का प्रतीकार हो जाने से उन्हें आश्वासन अवश्य हुआ । यही भाव उनकी कृतियों में विद्यमान है—

वेद राखे विदित पुरान राखे सारयुत
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मैं ।
हिन्दुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की
काँधे मैं जनेऊ राख्यो माला राखी गर मैं ॥
मीडि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातशाह
बैरी पीसि राख्यो वरदान राख्यो कर मैं ।
राजन की हद्द राखी तेगबल शिवराज
देव राखे देवल स्वधर्म राखे घर मैं ॥

इसीसे यह हम कह सकते हैं कि चन्द के बाद कोई भी कवि ऐसा नहीं हुआ जो उनकी पङ्क्ति में बैठता ।

सच तो यह है कि साम्राज्य के विशाल भवन में अथवा ऐश्वर्य के विलास-निकेतन में हिन्दी साहित्य का विकास नहीं हुआ। विद्वानों के सरस्वती-सदन में भी उसके लिए स्थान नहीं था। वह केवल सर्वसाधारण के हृदय में स्थित था। जब संस्कृत साहित्य में ज्ञान की चर्चा होती थी, दर्शन-शास्त्र की व्याख्यायें की जाती थीं, साहित्य शास्त्र का मर्मोद्घाटन किया जाता था उस समय सर्वसाधारण में जीवन और मृत्यु का चिरन्तन प्रवाह बह रहा था। उस समय उनके हृदय में सुख दुःख की जो तरङ्गें उठती थीं वे यों ही विलीन नहीं हो जाती थीं। संयोग और वियोग, आशा और निराशा का अनुभव उन्हें भी करना पड़ता था। वर्षा और वसन्त के आगमन से वे भी किसी अज्ञात वेदना से व्याकुल होते थे। उन्हीं के मनोविकारों का चित्र हम हिन्दी साहित्य के आदि-काल में पाते हैं।

खुसरो रैन सुहाग की जागी पिय के संग।
तन मेरो मन पीय को भये दोऊ एक रंग॥
श्याम सेत गोरी लिये जनमत भई अनीत।
इक पल में फिर जात हैं जोगी काके मीत॥
गोरी सोवै सेज पर मुख पर डारे केस।
चल खुसरो घर आपने रैन भई चहुँ देस॥

जो साहित्य जन-समाज से सम्पर्क रखते हैं उन पर धार्मिक आन्दोलन का प्रभाव सब से अधिक पड़ता है। राजनीति के क्षेत्र में जो परिवर्तन होते हैं उनसे सर्व-साधारण के दैनिक जीवन की गति में कोई बाधा नहीं आती। जब भारतवर्ष में राजनैतिक परिवर्तन हो रहे थे तब हिन्दू धर्म-शास्त्रकारों के द्वारा हिन्दू-समाज का नवीन सङ्गठन हो रहा था। बौद्ध-धर्म का अन्त होने पर हिन्दू धर्म-शास्त्रकारों ने विधिव्यवस्था द्वारा समाज की मर्यादा

निर्धारित कर दी थी। परन्तु धार्मिक भावनाओं में या अदृढ़ता नहीं थी। यदि धर्म और सन्यास-मार्ग पर सर्वसाधारण की श्रद्धा अवश्य थी, परन्तु अपने दैनिक जीवन में मुक्ति की अपेक्षा भव कथन के प्रति ही उनका अधिक अनुराग था। इसी से वे सामाजिक कर्तव्यों का पालन और इष्ट-देवों की उपासना में निरत रहते थे। ब्राह्मण समाज के नेता थे, परन्तु वे जाति की विशुद्धता और वर्ण-व्यवस्था की मर्यादा की रक्षा में विशेष सावधान थे। मुसलमानों के आक्रमण के पहले अन्य विदेशी जातियों से हिन्दू जाति का संसर्ग हो चुका था और इस्लाम धर्म के प्रचारक वर्ण व्यवस्था के मूल पर कुठाराघात करना चाहते थे। मुसलमानों के विजय प्राप्त करने पर धर्म की रक्षा के लिए समाज की विधि व्यवस्था की रक्षा आवश्यक हो गई। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों ने आचार पर विशेष जोर दिया। परन्तु इस्लाम धर्म के मूल में जो भ्रातृभाव और एकेश्वरवाद है उसका प्रभाव सर्वसाधारण पर न पड़ता, यह असम्भव था। वर्णव्यवस्था में उच्च-नीच का भेद बढ़ गया था। इसके सिवा देव-पूजा में उपासना का भाव विधि-विधानों के आडम्बर से लुप्तप्राय हो गया था। शूद्रों के लिए तो धर्म का द्वार ही अवरुद्ध था। यही कारण है कि जब रामानन्द ने उच्च और नीच का भेद मिटाकर सर्व जन सुलभ भक्ति का उपदेश दिया तब सर्वसाधारण के हृदय में एक नवीन भाव की प्रतिष्ठा हुई। यह उपदेश सर्वसाधारण के लिए था और यह भाव सर्वसाधारण की भाषा में प्रकट हुआ।

कबीर ने हिन्दू-समाज में धर्म के नाम से जितने कृत्रिम बन्धन थे उन सबका खण्डन किया। इसके साथ ही उन्होंने सर्वसाधारण के दैनिक जीवन में अन्तर्ज्योति को प्रत्यक्ष कर दिखाया। कबीर केवल एक सम्प्रदाय के प्रवर्तक नहीं हैं, वे

हिन्दी के एक श्रेष्ठ कवि हैं और उनकी कविता की अपूर्वता का एकमात्र कारण यह है कि उन्होंने लौकिक भावों में एक अलौकिक भावना प्रकट कर दी।

पिय ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली।
ऊँची अटरिया जरद किनरिया लगी नाम की डोरिया॥

अथवा—

ये अँखियाँ अलसानी पिय हो सेज चलो।
खंभ पकरि पतग अस डोले बोले मधुरी बानी
फूलन सेज बिछाइ जो राख्यो पिया बिना कुम्हलानी।

अथवा—

कौन रँगरेजवा रँग रे मोर चुंदरी—
पाँच तत्त्व की बनी चुंदरिया
चुंदरी पहर के लगे बड़ी सुंदरी।

इन सब में तत्त्व कबीर का है, किन्तु भाव सर्व-साधारण का है। कबीर की अपेक्षा नानक में कवित्व कम है। परन्तु लौकिक भाव की सरलता और लौकिक विश्वास की दृढता ने उनकी स्वच्छ भाषा में एक रमणीयता पैदा कर दी है—

सब कछु जीवत को व्यवहार,
माता पिता भाई सुत बान्धव अरु पुनि गृह की नार।
तन से प्राण होत जब न्यारे टेरत प्रेत पुकार,
आध घरी कोऊ नहीं राखे घर ते देत निकार।
मृगतृष्णा जो जगरचना यह देखो हृदय विचार,
कहु नानक भज रामनाम नित जाते हो उद्धार॥

कबीर और नानक के समान कितने ही सन्तों ने निर्मल भाषा में सरल भावों को निबद्ध कर हिन्दी-साहित्य को भी सम्पन्न किया है। उनमें कल्पना की छटा नहीं और न भाषा का सौष्ठव

है। परन्तु सर्वसाधारण को कल्याण के पथ में ले आने के लिए उनके पदों में यथेष्ट शक्ति है। शील और सन्तोष, विचार और विवेक अनुराग और विराग के उदात्त भावों से युक्त होने कारण सन्तों की ये रचनायें हिन्दी-साहित्य की अक्षय सम्पत्ति हैं।

जब भारतवर्ष में मुगलों का प्रभुत्व हुआ तब हिन्दी-साहित्य में मध्ययुग भी आरम्भ हुआ। मुगलों के शासन-काल के साथ हिन्दी साहित्य का विशेष सम्बन्ध है। मुगलों के पहले मुसलमानों में भारतीयता के प्रति अनुराग नहीं था। वे विदेशी थे और भारतवर्ष के विजेता थे। परन्तु जब भारतवर्ष में उनका आधिपत्य स्थापित हो गया तब हिन्दू जाति के साथ उनका विशेष ससर्ग हुआ। भारतवर्ष का शासन करने के लिए उन्हें हिन्दू जाति के श्रेष्ठ लोगों से सहायता लेनी पड़ी। बङ्गाल के समान प्रान्तों में तो उनकी राज्य-सत्ता हिन्दू जाति की सहानुभूति प्राप्त कर लेने पर ही अवलम्बित थी। यह सच है कि पहले पहल धार्मिक भाव की प्रेरणा से मुसलमानों ने हिन्दू-जाति पर अत्याचार अवश्य किये। परन्तु शीघ्र ही मुसलमानों को हिन्दुओं के साथ मिल कर रहना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य और कला की उन्नति में दोनों जातियों के विद्वान् दत्तचित्त हुए। मुसलमान-जाति के श्रेष्ठ विद्वान् भारतीय सभ्यता से पहले भी अपरिचित नहीं थे। संस्कृत साहित्य के कितने ही ग्रन्थ रत्नों का अनुवाद अरबी भाषा में पहले ही हो चुका था। परन्तु भारतवर्ष में हिन्दू और मुसलमान के संसर्ग से एक नवीन भारतीय कला की स्थापना हुई। मुगलों के शासन-काल में शान्ति स्थापित हो जाने के कारण और कला की विशेष श्रीवृद्धि हुई। बाबर, हुमाऊँ, अकबर प्रभृति सभी मुगल सम्राट् और उनके समय के अधिकांश सम्भ्रान्त व्यक्ति साहित्य प्रेमी थे। मुगल काल में कितनी ही उच्च-कुल-सम्भूता स्त्रियों तक

ने फ़ारसी में कवितायें लिखी हैं। ठीक इसी समय हिन्दी-साहित्य में व्रजभाषा का प्राधान्य हुआ। वल्लभाचार्य और भक्त शिरोमणि विट्ठलनाथ के उपदेशामृत से व्रज-धाम में मानों रस का स्रोत उमड पड़ा। व्रजभाषा में एक स्वाभाविक मधुरता है और उस स्वाभाविक मधुरता के कारण फ़ारसी-साहित्य के प्रेमी भी उसकी ओर आकृष्ट हुए। व्रजसाहित्य के नायक श्रीकृष्ण थे। उनका चरित्र प्रेम और सौन्दर्य का आगार है। सन्तों की रचनाओं में सत्य की सरल मूर्ति है। परन्तु मध्ययुग के कवियों ने अपनी कल्पना की रश्मिछटा से अपूर्व सौन्दर्य की सृष्टि की। सन्तों के निर्गुण और निराकार के स्थान में सगुण और साकार की प्रतिष्ठा हुई। विवेक और विराग का स्थान प्रेम और अनुराग ने ले लिया। विवेक लोक मर्यादा की रक्षा करता है और प्रेम उस मर्यादा का अतिक्रमण कर जाता है। विराग का लक्ष्य ज्ञान है और अनुराग ज्ञान का तिरस्कार करता है। विशुद्ध प्रेम लोकातीत, उच्छृङ्खल होता है, वह किसी भी बन्धन को स्वीकार करना नहीं चाहता।

कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोउ कहौ रङ्किनी कलङ्किनी कुनारी हौं।
कैसे यह लोक नरलोक बरलोकनि मैं,
लीन्हौ मैं अलोक लोक लोकनि ते न्यारी हौं॥
तन जाउ मन जाउ देव गुरजन जाउ
जीव किन जाउ टेक टरति न टारी हौं।
वृन्दावनवारी वनवारी की मुकुटवारी
पीतपटवारी वहि मूरति पै वारी हौं॥

वह उच्छृङ्खल प्रेम जो लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन कर, लोक-लज्जा को छोड कर, लोक निन्दा को ग्रहण कर, अपने

सार्थकता प्राप्त करता है, उसका मूल्य संसार नि र्धारित नहीं कर सकता। उद्धव ने गोपिकाओं की यही विक्षिप्तावस्था देखकर उन्हें जब ज्ञान का उपदेश दिया उस समय गोपियों ने कहा—

मति अति आपकी अचल अचला सी लगे
सागर सनेह कहो कैसे पार पावेगी?
खोलिए न जीह अरु लीजिए न नाम इन
बलदेव ब्रजराज जू की सुधि आवेगी॥
सुनतहि प्रलय पयोधि माहि एक ऐसी
कहर करन हारी लहर सिधावेगी।
राधे-दृग-सलिल प्रवाह माँहि आज ऊधो
रावरे समेत ज्ञान-गाथा बहि जावगी॥

गोपियों के द्वारा मध्ययुग के कवियों ने उद्धव का उत्तर क्या दिलवाया है सन्तों की ज्ञान-गाथा का ही उत्तर दिया है।

इस प्रकार लौकिक प्रेम में अलौकिक भक्ति का समावेश हुआ।

३–हिन्दी काव्य में प्रेम



सभी देशों के साहित्य में दो धारायें स्पष्ट दिखाई देती हैं, एक ज्ञान की धारा है और दूसरी है प्रेम की धारा। एक का लक्ष्य सत्य है और दूसरी का सौन्दर्य। जिस साहित्य का लक्ष्य सत्य है वह मनुष्य-जीवन के अन्तस्तल की परीक्षा करता है। उसके दोषों को, उसकी निस्सारता को, उसके मिथ्या अंश को वह खूब स्पष्ट कर देता है। वह पापों की बीभत्स लीलाओं को प्रकट करने में सङ्कोच नहीं करता, उत्कट वासनाओं और उग्र भावनाओं के भीषण परिणामों को दिखाने के लिए उद्यत रहता है। जीवन का ऐसा कोई भी अन्धकारमय अंश नहीं है जहाँ वह सत्य का आलोक न डालता हो। परन्तु जिस साहित्य का लक्ष्य 'प्रेम' और 'सौन्दर्य' है वह कल्पना की मधुरिमा से संसार को रञ्जित कर उसमें एक अनिन्द्य सुषमा का दृश्य दिखलाता है। हिन्दी-साहित्य में ये दो धारायें बिलकुल स्पष्ट हैं। ज्ञान की धारा सन्तों ने बहाई है और प्रेम की धारा व्रज के कवियों ने। व्रज-साहित्य में प्रेम और सौन्दर्य की ही प्रधानता है। इसमें अधिकांश भक्त-कवि हैं। उनकी रचनाओं में केवल कवित्व-कला का निदर्शन नहीं हुआ है। उन्हीं में उनकी आराधना, उनकी साधना और उनकी पूजा है।

इन भक्त कवियों मे तुलसीदास की रचना म ज्ञान और प्रेम, सत्य और सौन्दर्य का विलक्षण सम्मिलन हुआ है। तुलसीदासजी ने उन भावों का वर्णन अवश्य किया है जो मनुष्य-मात्र के जीवन में पाये जाते हैं। परन्तु उन्होंने उन भावों को आदर्शरूप में ही व्यक्त किया है। पिता, माता, भ्राता, पति और पत्नी के सभी सम्बन्ध राम-चरित्र में आदर्श रूप से विद्यमान हैं। उनके मनो भावों को प्रकट करते समय तुलसीदासजी यह कभी नहीं भूल सके हैं कि भगवान् रामचन्द्र साक्षात् ईश्वर हैं और लोक मर्यादा की रक्षा के लिए वे पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए हैं। इसी से उनके प्रेम और वियोग व्यथा को उन्होने बड़ी कोमलता से प्रकट किया है। सयम और धैर्य दोनो पद पद मे प्रकट होते हैं।

जब सीताजी ने रामचन्द्रजी को पुष्प-वाटिका म पहले-पहल देखा उस समय उनके दर्शन-मात्र से उनके हृदय में प्रेम-भाव का सञ्चार हुआ। उसको तुलसीदासजी ने जैसी कोमलता से व्यक्त किया वह हिन्दी साहित्य में तो दुर्लभ है। उसी स्थल का एक पद्य है—

लोचन मग रामहिं उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

सीताजी के प्रेम में सर्वत्र सुशीलता, लज्जा और सङ्कोच है। लज्जा और सङ्कोच यहाँ तक है कि पार्वतीजी से प्रार्थना करते समय भी वे अपने मनोभाव को स्पष्ट नहीं कह सकतीं—मोर मनोरथ जानहु नीके, बसहु सदा उरपुर सबही के। इससे अधिक र कह नहीं सकी हैं। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि उनका प्रेम कम है। सच तो यह है कि जहाँ प्रेम की गम्भीरता है वहाँ आवेग हो ही नहीं सकता। गोपियों के प्रेम में गम्भीरता नहीं, तन्मयता है। उनकी उद्दाम चित्तवृत्ति में प्रेम, भक्ति और वासना का सङ्गम हुआ है। गोपियों के मनोभावों में

इन तीनो की प्रबलता है। इसी से श्रीकृष्ण के भक्त कवियों ने भी उस सौन्दर्य और प्रेम के निधान के आगे मानो शील और सद्भाव को न्यौछावर कर दिया है। इसके सिवा उन्होंने श्रीकृष्ण में मनुष्यत्व और देवत्व को पृथक् कर कभी नहीं देखा। उनके श्याम जैसे हैं वैसे ही, उसी रूप में, उनके उपास्य हैं—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल—
मोहनि मूरति साँवरि सूरति नैना बने रसाल।
मोर मुकुट मकराकृत कुण्डल उर बैजन्ती माल॥

यह सच है कि वे अनादि और अनन्त हैं। वे सृष्टि के कर्ता और संहर्ता हैं। परन्तु इन कवियों के लिए वे यशोदा के पुत्र ही हैं जो भोजन माँगते समय अवश्य रोवेंगे। इसीसे उन्होंने श्रीकृष्ण चरित्र में मानवीय भावों को विशदता से वर्णित किया है। उनमें सर्वत्र लौकिकता है, कहीं भी अलौकिकता नहीं। सूरदासजी के सूरसागर में प्रेम का सागर ही उमड आया है।

मैय्या मोंहि दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हों तू जसुमति कब जायो॥
कहाँ कहीं यहि रिस के मारे खेलन हों नहीं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुम्हरे तातु॥
गोरे नन्द यशोदा गोरी तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दे दे हँसत ग्वाल सब सिखे देत बलबीर॥
तू मोहीं को मारन सीखी दाउहिं कबुहिं न खीजै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति पुनि पुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई जनमत ही को धूत।
सूर श्याम मों गोधन की सौं हों माता तू पूत॥

यह जगदीश्वर का चरित्र नहीं है। वात्सल्य-रस का इससे अधिक स्वाभाविक चित्र अङ्कित करना सम्भव नहीं। प्रेम की

अवस्था वर्णित करते समय भी सूरदासजी ने सर्वत्र स्वाभाविक चित्र ही अङ्कित किया है।

तें मेरे हित कहत सही री।
यह मोको सुधि भली दिवाई
तन बिसरे मैं रहुन रही री॥
जब ते दान लियो हरि हम सों
हँस हँस री कछु बात कही री॥
काके घर काके पितु माता
काके तन की सुरति रही री॥
अब समझत कहु तेरी बानी
आई कहि जी लाज गही री॥

मुरली मनोहर की इसी मधुर मूर्ति पर कितने ही मुसलमान कवि मुग्ध हो गये। इन मुसलमान कवियों में रसखान तो बिल कुल प्रेमभाव में तन्मय हो गये हैं—

या लकुटी अरु कामरिया पर लाज तिहूँपुर को तजि डारौं।
आठहुँ सिद्धि नवों निधि को सुख नन्द की गाय चराय बिसारौं॥
रसखानि कवौं इन आँखनि सों ब्रज के बनबाग तड़ाग निहारौं।
कोटिन हूँ कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

हिन्दी-साहित्य में सूरदास, मीराबाई और रसखान के द्वारा इसी प्रेम-भाव की प्रतिष्ठा हुई। श्रीकृष्ण के चरित्र द्वारा मानव जीवन के सभी भावों का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाने लगा। इसका फल यह हुआ कि मनुष्य-जीवन में सौन्दर्य का जितना कुछ विकास हो सकता है वही कवियों का लक्ष्य हो गया। शारीरिक सौन्दर्य में कवियों ने नख से शिख तक का वर्णन किया है। प्रेम की भिन्न भिन्न अवस्थाओं का वर्णन करने समय कवियों ने परकीया के प्रेम में भी सौन्दर्य को प्रधानता दी है।

हिन्दी-साहित्य में शृङ्गार-रस की सभी कवितायें भक्ति भाव की प्रेरणा से नहीं लिखी गई हैं। ईश्वरीय भक्ति का स्थान मानवीय प्रेम ने ले लिया, यह हम आगे देख चुके हैं। सच तो यह है कि हिन्दी के परवर्ती साहित्य में श्याम केवल मनुष्य-मात्र के प्रतिनिधि हैं—

फूलन सो बाल की बनाई गुही बेनी लाल
भाल दीन्हीं बेंदी मृग मद की असित है।
अङ्ग अङ्ग भूषन बनाई ब्रजभूषन जू,
बीरी निज करते खवाई अतिहित है॥
ह्वै कै रस बस जब दीबे को महावर के
सेनापति स्याम गह्यो चरन ललित है।
चूमि हाथ नाथ के लगाई रही आँखिन सौं
कही प्रानपति यह अति अनुचित है॥

यहाँ 'स्याम' ब्रजेश्वर के रूप में अङ्कित नहीं हुए हैं। यह तो पति के स्नेह और सौभाग्यवती के गर्व और प्रेम का स्वाभाविक चित्र है।

जो हा कहों रहिये तो प्रभुता प्रकट होत
चलन कहा तो हित हानि नाहीं सहनो।
भावै सो करहु तो उदास भाव प्राणनाथ
साथ ले चलहु कैसे लोकलाज वहनो॥
केशवदास की सौं तुम सुनहु छबीलेलाल
चलेही बनत जो पै नाहीं राज रहनो।
जैसिये सिखाओ सीख तुमही सुजान प्रिय
तुम ही चलन मोहि जैसो कछु कहनो॥

पतिप्राणा रमणी की यह स्वाभाविक प्रेम-उक्ति है। सच तो यह है कि केशवदास से लेकर हरिश्चन्द्र तक जितने कवि हुए

हैं उन सब का लक्ष्य एक ही है। वह है सौन्दर्य की सृष्टि। भक्तिभाव का सर्वथा लोप नहीं हो गया था। राम और कृष्ण हिन्दूमात्र के आराध्य देव हैं। यह सम्भव नहीं कि हिंदी के कवि अपनी कविता में भक्ति के भाव प्रकट न करें। परन्तु ब्रज के भक्त कवियों से उनकी तुलना करने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि ये लोग एक ही पंक्ति में नहीं बैठ सकते। इनकी रचनाओं में जो भेद है वह बिलकुल प्रत्यक्ष है। एक में सत्य अधिक है और दूसरी में कल्पना। एक में भाव है और दूसरी में आवेश है। एक में अनुराग है और दूसरी में विलास है। एक में स्थिरता है और दूसरी में चञ्चलता है। अब उदाहरण लीजिए। सूरदास का यह पद देखिए—

नैना ढीठ अतिही भये।
लाज लकुट दिखाय त्रासी नैकहूँ न नये॥
तोरि पलक कपाट घूँघट ओट मेटि गये।
मिले हरि को जाय आतुर जे हैं गुननिमये॥
मुकुट कुण्डल पीत पट कटि ललित वेस ठये।
जाइ लुब्धे निरखि वह छवि सूर नन्द जये॥

सूरदास ने इस पद्य में प्रेम की जिस विमुग्धावस्था का वर्णन किया है उसके साथ एक परवर्ती कवि की नायिका की चञ्चलावस्था की तुलना कीजिये—

जोरि जोरि जोरि दृग मोरि मोरि मोरि मुख
चोरि चोरि चोरि चित चखनि चितै गई।
झुकि झुकि झाँकन झरोखा झाँकि झाँकि जात
ताकि ताकि तीछन से तीर तन दै गई॥
सुमति प्रवीण मुख चन्द सो उदोत होत
मृदु मुसकानि में चकोर चित्त कै गई।

लुकि लुकि लोचन सकोचन सो हेरि हेरि
लगी सी लगाय के लपेट मन ले गई ॥

रसखान का एक कवित्त लीजिए—

छूटी लोकलाज गृहकाज मन मोहनी को
मोहन को भूलि गयो मुरली बजाइवो।
अब रसखान दिन द्वै में बात फैलि जैहै
सजनी कहाँ लौं चन्द हाथ न दुराइवो॥
कालि ही कलिन्दी तीर चितये अचानक हीं
दुहुन की ओर दोऊ मुरि मुसकाइवो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेन हैं बलय्याँ
उन्हें भूल गई गयाँ इन्हें गागर उठाइवो॥

इसमें प्रेम की जो तन्मयता है वह देव के समान हिन्दी के श्रेष्ठ कवि की रचना में नहीं है। देखिए—

रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै
साँसैं भरि आँसू भरि कहत दई दई।
चौंक चौंक चकि चकि उचकि उचकि देव
जकि जकि बकि बकि परत बई बई॥
दुहुन को रूप गुन दोऊ बरनत फिरै
पलन थिरात रीत नेह की नई नई।
मोहि मोहि मोहन को मन भयो राधिका म
राधा मन मोहि मोहि मोहन मई मई॥

हिन्दी के परवर्ती साहित्य में केशवदास, मतिराम, विहारी और देव की गणना हिन्दी के श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। ये सभी कविता के आचार्य माने जाते हैं। ये भक्त नहीं, कवि हैं। इनकी कवित्व-कला में इनकी विदग्धता तथा सृजनशक्ति और निपुणता प्रकट होती है। भक्त म हम केवल उसके भावों की

महत्ता देखते हैं, परन्तु कवि में हम उसकी कर्तृत्व शक्ति, उसकी सृजन-शक्ति, भी देखना चाहते हैं।

कवित्व-कला में कवि की जो सृजन-शक्ति प्रकट होती है वह भिन्न भिन्न भावों के विन्यास में ही प्रत्यक्ष होती है। जिस देव-कवि की शृङ्गारमयी उक्ति का उदाहरण अभी हम दे चुके हैं उसी की एक भक्तिमयी उक्ति देखिए—

देव नभ मन्दिर में बैठाऱ्यो पुहुमि पीठ
सिगरे सलिल अन्हवाये उहमन हो।
सकल महीतल के मूल फल फूल दल
सहित सुगन्धन चढ़ावन चहत हो॥
अगिनि अनन्त धूप दीपक अखण्ड ज्योति
जल थल अन्न दै प्रसन्नता लहत हो।
ढारत समीर चार कामना न मेरे ओर
आठो जाम राम तुम्हें पूजत रहत हो॥

उनकी एक दूसरी उक्ति सुनिए—

देव जू जो चित चाहिये नाह तो नेह निबाहिये देह हऱ्यो परै।
जौ समझाइ सुझाइये राह अमारग में पग धोखे धऱ्यो परै॥
नीके में फीके ह्वै आँसू भरे कत ऊँचे उसाँस गरो क्यों भऱ्यो परै।
रावरो रूप पियो अँखियानि भऱ्यो सो भऱ्यो उबऱ्यो सो ढऱ्यो परै॥

इसमें कल्पना का जो विकास हुआ है वह क्या उच्च कोटि का नहीं है? सङ्कोच और लज्जा, गूढ़ व्यथा और अभिमान को व्यक्त कर कविता में उसे प्रत्यक्ष मूर्ति दे देना अथवा केवल शब्दों के विन्यास के द्वारा पाठकों के अन्तस्तल में एक अपूर्व चित्र उदित कर देना कवि की सृजन शक्ति को प्रकट करता है। इसी सृजन-शक्ति के कारण हम इन कवियों की प्रशंसा करते हैं इन्होंने प्रेम की सभी अवस्थाओं का वर्णन किया है। जीवन के

अन्तस्तल में प्रवेश कर सौन्दर्य की उपलब्धि की है। अन्त सोन्दर्य और बाह्य सौन्दर्य दानो को इन्होंने प्रत्यक्ष कराया है आर भापा में कुछ ऐसी प्राण-शक्ति दे दी है कि यह नहीं जान पड़ता कि रस की अभिव्यक्ति मे भापा प्रधान है *या भाव।*

वारै कोटि इन्दु अरविन्दु रस बिन्दु पर
माने ना मलिन्द बिन्दु सम कै सुधासरो।
मलै मल्लि मालती कदम्ब कचनार चंपा
चपे हू न चाहे चित चरन टिकासरो॥
पदुमिनि तू ही षट पदु को परम पदु
देव अनुकूल्यो और फूल्यौ तो कहा सरो।
रस रिसि रास रोस आसरो सरन बिसे
वीसो विसवास रोकि राख्यो निसि वासरो॥

यह भापा-सौष्ठव का एक अच्छा उदाहरण है। यह सच है, इसी भापा-सौष्ठव पर विशेष ध्यान देने के कारण हिन्दी साहित्य में कवित्व कला की अवनति होने लगी। परन्तु यह तो सभी देशों के साहित्य में होता है। वह भापा की सुष्ठुता नहीं, केवल शब्दजाल है। भापा की सुष्ठुता तभी है जब उससे भाव प्रत्यक्ष हो जाते हैं। यमक और अनुप्रासों की योजना तभी सार्थक होती है जब केवल ध्वनिमात्र से भाव मूर्तिमान हो जाता है। ललित और कोमल शब्दों की योजना से काव्य में जो मधुरता व्यक्त होती है वह क्षणिक होती है और उससे कवि की कर्तृत्व शक्ति भी प्रकट नहीं होती। शब्दों के उचित सन्निवेश से कठोरता और कोमलता का ऐसा सम्मिश्रण होता है कि भापा केवल उत्थान पतन से भाव को प्रकाशित कर देती है। जब रस का स्रोत उमड़ता है तब भापा का प्रवाह भी प्रखर हो जाता है। उस समय शब्दों की जो तरङ्गें उठती हैं उन्हें देखकर यह नहीं कहा

जा सकता कि ये रस की तरङ्गें नहीं हैं। यदि हम उन शब्दों को छोड़ दें तो रस का भी सर्वथा अभाव हो जाता है। परन्तु जब केवल शब्दों की सृष्टि कर यमक और अनुप्रासों के द्वारा ही कवि हमारे हृदय पट पर भिन्न भिन्न भावों का उद्रेक करना चाहता है तब उसका प्रयत्न निष्फल होता है। कवि के शब्द विन्यास से हम क्षण भर विस्मय-विमुग्ध और कौतूहलपूर्ण भले ही हो जायँ, परन्तु उनकी कृति से न हमारी सहानुभूति जाग्रत होगी और न हृदय में किसी भावना की हिलोर ही उठेगी। पद्माकर का यह कवित्त देखिए —

> सजि ब्रजबाल नंदलाल सों मिले के लिए
> लगनि लगा लगि में लमकि लमकि उठै।
> कहै पद्माकर चिराग ऐसी चाँदनी सी
> चारों ओर चौकनि में चमकि चमकि उठै॥
> झुकि झुकि झूमि झूमि झिल झिल झेल झेल
> झरहरी झाँपन में झमकि झमकि उठै।
> दर दर देखो दरीखानन में दौरि दौरि
> दुरि दुरि दामिनी सी दमकि दमकि उठै॥

खेद है कि ब्रज की प्रेम धारा हिन्दी के परवर्ती कवियों की केवल यमक और अनुप्रासों की व्यर्थ सृष्टि में ही नष्ट हो गई है।

४–हिन्दी काव्य में सौन्दर्य-सृष्टि

कहा जाता है कि कविता का राज्य सौन्दर्य है। सभी कवि सौन्दर्य के उपासक और रूप के प्रेमी कहे जाते हैं। हिन्दी साहित्य में भी कितने ही ऐसे कवि हो गये हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा से एक ऐसे सौन्दर्य जगत् की सृष्टि की है जो हिन्दी साहित्य की ही विशेषता है। हिन्दी के कवियों ने जो सौन्दर्य-वर्णन किया है उसको हम दो भागों में विभक्त करते हैं, पहला, मानवीय सौन्दर्य वर्णन और दूसरा प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन। पहले हम मानवीय सौन्दर्य-वर्णन की चर्चा करते हैं।

एक विद्वान ने लिखा है कि सौन्दर्य के स्पष्टीकरण में सबसे पहले यह प्रश्न होता है कि कवियों का यह वर्णनीय विषय—सौन्दर्य—है कहाँ? वह भीतर है या बाहर, वस्तु-गत है या हृदय का भाव मात्र है? देखने से तो यही जान पड़ता है कि वस्तु ही सुन्दर है। वह स्वय सुन्दर है, हम उसके सौन्दर्य का उपभोग मात्र करते हैं। चन्द्रमा की निर्मल कान्ति, उषा की मधुर लालिमा, सन्ध्या की सौम्य प्रभा, ये सभी हृदय पर अङ्कित हो जाती हैं और तभी हम उनकी छवि को ग्रहण कर सकते हैं। हम सौन्दर्य की सृष्टि नहीं कर सकते। हम केवल उसे हृदयङ्गम कर सकते हैं। असख्य ताराओं से युक्त अनन्त आकाश,

लज्जाशीला युवती, इनका सौन्दर्य क्या हमारे भाव पर निर्भर है ? यह तो उन्हीं का धर्म है उन्हीं का ऐश्वर्य है। वे स्वयं अपने महत्त्व से महान् हैं। हम केवल द्रष्टा हैं। सौन्दर्य वस्तु-गत है। वह बाहर है। परन्तु यदि सौन्दर्य वस्तुगत है तो सुन्दर वस्तु के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न राय क्यों होती है ? एक मनुष्य एक वस्तु को सुन्दर समझता है और दूसरा मनुष्य उसीको कुत्सित कहता है, वह किसी दूसरी ही वस्तु को सुन्दर समझता है। भारतवासियों की दृष्टि में काले बाल और काली आँखें सुन्दर हैं और योरपवासी सुनहले बाल और नीली आँखों पर मुग्ध हैं। चीन वाले छोटे छोटे टेढ़े पैर और चपटी नाक में ही सौन्दर्य की पराकाष्ठा देखते हैं। नीग्रो-सुन्दरी अपने जिस सौन्दर्य का गर्व करती है उसे देख कर दूसरे लोग डर जाते हैं। भिन्न भिन्न जाति और भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न रुचि है। इससे तो यही प्रमाणित होता है कि सौन्दर्य का कोई वस्तुगत सार्वभौमिक मापदण्ड नहीं है। मनुष्यों की सौन्दर्य-वृत्ति उनकी शिक्षा और संस्कार पर निर्भर है। प्रत्येक जाति अपनी एक विशेष शिक्षा पद्धति और एक विशेष प्रकार की मानसिक अवस्था की सृष्टि करती है। भिन्न भिन्न व्यक्तियों की सौन्दर्य रुचि प्रकृति और शिक्षा से निर्मित होती है।

हम बाहर जो वस्तु देखते हैं वह सौन्दर्य नहीं है। वह है गढ़न, अथवा यह कहिए कि वह सौन्दर्य का उपकरण मात्र है। किन्तु यह उपकरण जिस किसी को सुन्दर अथवा असुन्दर प्रतीत होता है वह उसे अपने मन के भीतर से देखता है। भारतीय चित्रकार जिस रूप की सहायता से अपनी सौन्दर्यानुभूति को प्रकट करता है उसी को योरपीय चित्रकार नहीं स्वीकार करेगा। यही नहीं, किन्तु उसे वह रूप कुत्सित भी प्रतीत होगा।

वह अपनी सौन्दर्यानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए किसी दूसरे ही रूप का आश्रय लेगा।

सौन्दर्य के आधार के सम्बन्ध में मत-भेद हो सकता है, किन्तु स्वयं सौन्दर्य के सम्बन्ध में किसी में मत भेद नहीं होगा। जिस सौन्दर्य को प्रकट करने के लिए मनुष्य रूप का आश्रय लेता है वह क्या है, यह समझने के लिए हमें अपनी सौन्दर्य भावना का विश्लेषण करना चाहिए।

जब हम किसी को सुन्दर अथवा कुत्सित कहते हैं तब हम उसे तीन प्रकार से देखते हैं, पहले तो यह कि वह नेत्रों को प्रियकर है या नहीं, दूसरे यह कि वह हमारे हृदय को आनन्द दायक है या नहीं, तीसरे यह कि बुद्धि उसे अच्छा कहती है या नहीं। नेत्रों से हमें सिर्फ रेखा और रेखा विन्यास का ज्ञान होता है। नेत्र के स्नायु और उस पर पड़नेवाला रेखा का आघात, इन दोनों में एक प्रकार से मेल होता है। यह मेल जितना ही स्पष्ट और घनिष्ट होगा उतना ही वह रेखा विन्यास हमें अच्छा लगेगा। वस्तु की स्थिर रेखा नेत्रों को आच्छादित करेगी। उसकी गति हृदय को आकृष्ट करेगी। बुद्धि उसके गुण को ग्रहण करेगी। वर्षा मे हम आकाश में मेघ-पटल को देख कर मुग्ध होते हैं। हमारी इस मुग्धावस्था के तीन कारण हैं। पहला है उसका बाह्य आकार, रेखा विन्यास। इसी को कालिदास के मेघदूत में यक्ष ने सब से पहले देखा था—वप्रक्रीड़ापरिणतगजप्रेक्षणीय ददर्श। इसके बाद हम देखते हैं मेघ की निविड़ कालिमा। उसकी चञ्चल गति में हम अपने हृदय की आशा-निराशा और गम्भीर वेदना की प्रतिच्छाया देखते हैं। इसके बाद हम सोचते हैं कि वह पृथ्वी के हृदय को शीतल करेगा, कदम्ब को स्फुटकोरक करेगा, चातक

की पिपासा को दूर करेगा, मयूरी को नृत्य-विह्वल बना देगा, विरहिणी के चित्त को हर्षित करेगा। तब हम इसके गुण पर मुग्ध होते हैं। अब देखिए। हिन्दी के कवियों ने इस सौन्दर्य बोध को किस प्रकार प्रकट किया है—पहले शरीरज सौन्दर्य लीजिए। यही चक्षुओं से ग्राह्य है। श्याम के इसी सौन्दर्य पर मुग्ध होकर एक गोपी कह रही है।

वारि डारो शरद इन्दु मुख छवि गुविन्द पर
दिनेश हूँ को वारि डारों नखन छटान पर।
कोटि काम वारि डारो अग अग श्याम लखि,
वारि डारो अलि अलि घुन्वित लटान पर॥
नैनन की कोरन पे कज हूँ को वारि डारा
वारि डारा हस हूँ को चाल लटकान पर।
देख सखी आज ब्रजराज छवि कहा कहो
काम धनु वारि डारो भृकुटी मटान पर॥

वह रूप कौन सा था—

कुडल विलोल कुल कानन ननक राजे
केसरि तिलक भाल भृकुटी विशाल की।
कुन्दन किरीट तामें मोर के पखान सोंम
झूमत चलत मन्द गति सों मराल की॥
चितवन तिरछी तीर तीक्ष्ण अनङ्ग कैसे
चिहॅमत में आली जात लाली है गुलाल की।
कैसे हूँ बिसारे नाहिं बिसरत प्रताप नैन
मेरे मन बसी टेढी मूरति गोपाल की॥

परन्तु जिस रूप को देखकर निम्नलिखित पद्य की नायिका विह्वल हो गई थी वह उसके हृद्गत भाव का प्रेरक था।

पीत पट कसी वसी श्याम की सुगति लसी
तौला कुल फॉसन सिगास को सहति है।
आनै नहीं नेक एक प्रीति की परी है टेक
करि के अनेक कला लला को चहति है॥
कबधौं मिलेगो वह साँवरो कुँवर मोहि
लाख लाख यहै अभिलाष को लहति है।
खिरकी के माहिं खरी हिरकी हरी को हेरै
घरी घरी फिरकी लौं थिरकी रहति है॥

यशोदा ने कृष्ण के बाल्य-सुलभ और वीरोचित गुणों प
मुग्ध होकर कहा था—

कल न परति कहूँ ऊधो इन नयन को
कब धौं ललन धौरी धूमरी पुकारि हैं।
पूरि है श्रवण कब सुधा निज बैननि सौं
कब यह छवि हम नैननि निहारि हैं॥
बूड़िबो चहत ब्रज राखी दृगधारन ते
कब धौं धराधर करज पर धारि हैं।
मारि हैं अघासुर विदारि हैं बका को कब
वेणु को बजाय कुञ्जन में बिहारि हैं॥

इन तीनों भावों को एक कवि ने एक ही पद्य में बड़े अच्छे
ढँग से कह दिया है। उसमें नेत्र, हृदय और बुद्धि तीनों में प्राह
सौन्दर्य का समावेश हुआ है। सुनिए—

उमड़ि उमड़ि दृग रोवत अधीर भये
मुख-द्युति पीरी परी विरह महाभरी।
हरीचन्द प्रेममाती मनहुँ गुलाबी छकी
काम शर आँवरी सी द्युति तनु की करी॥

प्रेम कारीगर के अनेक रङ्ग रेतो यह
जोगिया सजाये गाल निरिछ नरे हरी।
आँखिन में साँवरो, हिये में वसन लाल वह
बार बार मुख ते पुकारत हरी हरी ॥

हम नेत्रों से सौन्दर्य को देखते हैं, हृदय से उसका अनुभव करते हैं और बुद्धि से उसको समझते हैं। नेत्रों से ग्राह्य सौन्दर्य में इन्द्रिय की तृप्ति होती है, हृदयग्राह्य सौन्दर्य से हृदय तुष्ट होता है और बुद्धि के द्वारा यथार्थ ज्ञान हो जाने पर सौन्दर्य का निर्मलतम रूप प्रकट हो जाता है। पहले सौन्दर्य से विकार होता है, दूसरे से प्रेम और तीसरे से भक्ति और तन्मयता होती है। अब इनके उदाहरण लीजिए।

शारीरिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर कोई गोपी कह रही है—

गरे गुञ्जमाल धरे खरे है तमाल तरे
लाल फल फूलन की माल पहिराय हैं।
ललित लता की सेज पल्लव मई सु नई
आपने करनि कर कुञ्ज में बिछाय हैं ॥

जिसने रूप को हृदय में रक्खा था उसकी उक्ति सुनिए—

पिय प्यारे बिना यह माधुरी
मूरति औरन को अब पेखिये का।
सुख छाँडि के सङ्गम को तुम्हरे
इन लच्छन को अब लेखिये का ॥
हरिचन्द जू हीरन को व्यवहार के
काँचन को ले परेखिये का।
इन आँखिन में तुव रूप बस्यो
उन आँखिन सों अब देखिये का ॥

परन्तु जिसने ज्ञान के द्वारा सौन्दर्य का निर्मलतम रूप...

देख लिया उसके लिए विहारी ने कहा है—

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यों ज्यों बूड़े श्याम रँग त्यों त्यों उज्जल होय॥

हिन्दी साहित्य नख-शिख वर्णन के लिए प्रसिद्ध है। इस नख-शिख वर्णन की एक विशेषता यह है कि कवि की कल्पना एक सङ्कुचित सीमा में बद्ध रही है, उस सीमा का उल्लङ्घन करने का साहस कभी किसी ने नहीं किया। यह सीमा शास्त्र निर्दिष्ट थी—हिन्दू साहित्य-शास्त्रकारों ने रूप-वर्णन के लिए प्रत्येक अङ्ग की एक आदर्श आकृति निर्दिष्ट कर दी थी। उसीका अनुसरण कवियों ने किया है। प्राचीन चित्रकला और मूर्ति निर्माण-कला में भी रूप का वही आदर्श स्वीकृत किया गया है। हिन्दी-साहित्य में प्राचीन परम्परा की जो रक्षा की गई है उसका कारण है। हिन्दी-साहित्य का उद्गम और विकास जिस प्रदेश में हुआ है वह प्राचीन आर्य्य सभ्यता का केन्द्र था। अतएव हिन्दू-जाति की समस्त भावनाएँ हिन्दी-साहित्य में व्यक्त हुई हैं। जाति की अस्तित्व-रक्षा के लिए, उसके शारीरिक और मानसिक विकास के लिए, जिन आदर्शों का प्रचार करना श्रेयस्कर होता है वे आदर्श हिन्दी-साहित्य ने प्राचीन साहित्य से ही लिये। शरीर के आदर्श के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। हिन्दी भाषा की भूमि में जो जाति निवास करती है वह प्राचीन आर्य-जाति की सन्तान है। इसमें सन्देह नहीं कि उसमें अन्य जातियों का सम्मिश्रण हुआ है। तो भी वर्णाश्रम की प्रथा से उसमें आर्य-जाति के संस्कार लुप्त नहीं हुए। यह जाति शौर्य से युक्त होने पर भी असहिष्णु नहीं है। अध्यवसायशील होकर भी वह क्षिप्र नहीं है। उसमें दृढ़ता है, चञ्चलता नहीं है। उसकी आकृति से भी यही बात प्रकट होती

है। जो जाति अपने को जितना ही विशुद्ध रखती है उसकी
आकृति में रेखा की उतनी ही स्फुटता, दृढता और अङ्गो की
समानता देखी जाती है। वर्ण भेद होने पर भी हिन्दी भाषा
भाषियों में आकृति भेद नहीं है। यही कारण है कि भिन्न भिन्न
प्रान्तों के कवियों के रूप-वर्णन में समता है।

यह नहीं कहा जा सकता है कि हिन्दू कवियों अथवा चित्र
कारों की रूप-सृष्टि में वैचित्र्य नहीं है। वैचित्र्य अवश्य है, परन्तु
वैचित्र्य का कारण बाह्य आकृति नहीं, किन्तु अन्त प्रकृति है।
कवि जिस रूप की कल्पना करता है उसे वह अपनी अन्तरात्मा
से पाता है। अन्तर्दृष्टि की सहायता से उसी सौन्दर्य को व्यक्त
करना उसका मुख्य उद्देश होता है। बाह्य आकृति कवि का
उपकरण मात्र है। कवि जिन भावों में डूबा रहता है वही भाव
साकार होकर प्रत्यक्ष हो जाते हैं। बाह्य आकृति से अन्त प्रकृति
का सम्बन्ध अवश्य है, शरीर के ऊपर अन्तरात्मा की छाया
अवश्य पड़ती है। जिसे हम लावण्य कहते हैं वह और कुछ नहीं,
अन्तर्भावना की प्रतिच्छाया है। बर्गसन नामक एक प्रसिद्ध
दार्शनिक ने इसी की पुष्टि की है। उसने लिखा है—

The soul imparts a portion of its winged light
ness to the body it animates, the immateriality
hich thus passes into matter is what is called
gracefulness आत्मा की कुछ चञ्चलता शरीर में भी आ जाती है।
अन्त करण की स्फूर्ति शरीर में कुछ प्रकट अवश्य हो जाती है।
उसी के कारण बाह्य आकृति में नवीनता बनी रहती है। बाह्य
सौन्दर्य में स्थिरता रहती है। क्षण क्षण में वह तभी नवीन होता
है जब अन्त करण की स्फूर्ति उसमें प्रकट होती है। इसी से
बिहारी ने लिखा है—

लिखन बैठ जाकी सबिहिं गहि गहि गरब गरूर।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर॥

बाह्य रूप अङ्कित करने में चित्रकार को कठिनता न होती। परन्तु भावों के कारण रूप में जो चञ्चलता आजाती है उसको अङ्कित करना अवश्य कठिन है। कवियों ने भिन्न भिन्न अङ्गों के लिए जो उपमायें कल्पित की हैं उनसे केवल रूप की स्थिरता प्रकट होती है। भावों की चञ्चलता को प्रकट करने के लिए उनको अपनी उपमाओं में भी अनेक कल्पनायें करनी पड़ी हैं।

कवियों ने मुख की उपमा चन्द्र से दी है। चन्द्रमा को देख कर रामचन्द्र जी को भी सीता जी के मुख का स्मरण हो आया। परन्तु सीता जी के मुख-सौन्दर्य को क्या चन्द्रमा पा सकता था—

जन्म सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक।
सिय मुख समता पाव किमि चन्द बापुरो रंक॥
घटइ बढ़इ बिरहिन दुखदाई।
ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई॥
कोक सोकप्रद पंकज द्रोही।
अवगुन बहुत चन्द्रमा तोही॥

रामचन्द्र जी ने चन्द्रमा में जो दोष देखे वे चन्द्रमा के दोष नहीं हैं। यदि ये दोष उसमें न भी रहते तो भी सीता जी के मुख के साथ उसकी तुलना नहीं हो सकती। क्योंकि सीताजी तो—

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी॥

सीता जी की इस मूर्ति में प्रेम, लज्जा और सङ्कोच का जो भाव प्रदर्शित हुआ है उसके लिए सचमुच कोई उपमा नहीं है

केशवदास ने तो यहाँ तक कह दिया है कि शृंगार कोशिश करने पर भी चन्द्रमा मुख की शोभा नहीं पा सकता—

> ग्रहनि में कीन्हो गेह सुरनि दै देख्यो देह
> शिव सों कियो है नेह जाग्यो युग चार्‌यो है।
> तपिन में तप्यो तप जलधि में जप्यो जप
> केशवदास वपु मास मास प्रति जार्‌यो है।
> उडगण-ईश द्विज ईश ओषधीश भयो
> यदपि जगत्-ईश सुधा सों सुधार्‌यो है।
> सुनि नँदनन्द प्यारी तेरे मुखचन्द सम
> चन्द पै न भयो कोटि छन्द करि हार्‌यो है।

केशान्त से लेकर भ्रूपर्यन्त ललाट है। यह कुछ खिंचा हुआ अर्धचन्द्राकार होता है।

> भाग को भाल सोहाग को चौंतरो सुन्दरता को सिंहासन सोई।
> सागर है रस को पुन प्रेम को लोचनपन्थिन को सुख होई॥
> सूर कहै न सुनै लइ लागी चन्द ही दोष कछु न भलोई।
> होत नहीं सरि तेरे ललाट की तो शशि चौथि को देखै न कोई॥

पुरुषों के भ्रू-युगल का आकार निम्बपत्र के समान होता है और स्त्रियों के धनुषाकार। हर्ष, भय, क्रोध आदि भिन्नभिन्न भावों के आवेश से भ्रू-युगल कभी उन्नमित, कभी नमित और कभी सङ्कुचित होते रहते हैं।

कवियों ने टेढ़ी लता, कामदेव के धनुष कामदेव के खड्ग के म्यान और भौंरे के पङ्खों से उसकी उपमा दी है।

> कैधो लागी पङ्कज के अङ्क-पङ्क-लीक सीधा
> केशव मयङ्क-अङ्क अङ्कित सुभाय को।
> जन्त्र है सुहाग को कि मन्त्र अनुराग को
> कि मन्त्रन को बीज अधऊरध अभाय को?

आसन सिंगार को कि काम को सरासन है
न्यासन लिखो है प्रेम पूरन प्रभाय को।
राख रूख वेष विष विषम पियूख में
सुभामिनी की भौंहैं कैधों भौन हाय भाय को॥

नेत्र मत्स्याकृति कहे गये हैं। नेत्र के भाव और भाषा का अन्त नहीं, उसी प्रकार उसकी उपमाओं का भी अन्त नहीं है। खञ्जन-नयन, हरिण-नयन, कमल-नयन आदि कितने ही प्रकार के नेत्रों के वर्णन कवियों ने किये हैं। स्त्रियों के नेत्रों में स्वभाव से चञ्चलता है। इसीसे कदाचित् सफरी, खञ्जन और हरिण, इन तीन चञ्चल प्राणियों के नेत्रों से उनकी उपमा दी जाती है। पर इन नेत्रों के द्वारा भिन्न भिन्न भाव भी प्रकट होते हैं। खञ्जन-नयन में कौतूहल-पूर्ण विलास का भाव विद्यमान रहता है, सफरी नयन में अस्थिर दृष्टि पात, हरिण नयन में सरल माधुर्य, पद्म पलाश नयन में प्रशान्त दृक्पात आदि भाव नेत्रों की आकृति के साथ प्रकट होते हैं।

मत्स्याकृति नेत्रों के सम्बन्ध में सूरदासजी ने लिखा है।

उपमा नैनन एक रही।
कवि जन कहत कहत सब थाके सधि कर नहीं कही॥
नहि चकोर विधुमुख विन जीवत भँवरहु नहीं लखात।
हरि मुख कमल कोशतें बिछुरे अनतें कत ठहरात॥
ऊधो वधिक व्याध ह्वे आये मृग सम क्यों न परात।
भागि जाहि वन सघन स्याम में जहाँ न कोऊ घात॥
खजन मनरजन न होहि ये कबहुँ नहीं अकुलात।
पख पसारि न होहि चपलगति हरि समीप उड़ि जात॥
कमल न होहिं कौन विधि कहिए झूठे ही तनु आड़त।
सूरदास मीनता कछू इक जल भरि कबहुँ न छाँड़त॥

एक कवि ने एक ही पद्य में इन समस्त उपमाओं का सन्निवेश कर दिया है—

मृग कैसे मीन कैसे खञ्जन प्रवीन कैसे
अञ्जन सहित सित असित जलद से।
चर से चकोर से कि चोखे खाड़े कोर से
कि मदन मरोर से कि माते राते मद से॥
नवी कवि पैना से कि और नेन पेना से
कि सियरे सलौना से कि आछे मृगमद से।
पद्य से पयोधि से कि आर साधे सोध से
कि कारे भार कैसे अनियारे कोकनद से॥"

जान पड़ता है कि कर्ण की गठन पर कला-कोविदों का ध्यान विशेष नहीं गया। कवियों ने कर्ण-फूल और कर्ण-भूषण की जितनी प्रशंसा की है उतनी कर्ण की नहीं। प्राचीन चित्रों में कर्ण की शोभा सदैव अलङ्कारों से आच्छादित रही है। कवियों ने कर्ण की उपमा राग के रमण पात्र, शोभा के पवित्र भवन, लाज के नेन, मन के मन्त्री आदि से दी है—

रागिन के आगर विराग के विभागकर
मन्त्र के भण्डार गूढ रुढ के रमन हैं।
ज्ञान के निगर किधों तनक तनक तन
कनक कचोरी हरिरस अचवन हैं॥
श्रुतिन के कूप किधों मन के सुमित्र रूप
किधों केशौदास रूप भूप के भवन हैं।
लाज के नयन किधों नयन सचिव किधों
नयन कटाक्ष शर लक्ष्य के भवन हैं॥

नाक की उपमा तिल पुष्प से दी जाती है, तिल-पुष्पाकृति नासा। स्त्रियों के चित्रों में तिलफूल की ही नाक की आकृति

दिखलाई गई है। शक्तिमान् और महात्मा के चित्रों में नाक की आकृति शुक-चञ्चु के सदृश है। हिन्दी में इस भिन्नता पर ध्यान नहीं दिया गया है। एक कवि ने नाक के विषय में लिखा है—

> वनवासी किये शुक पीठि निवासी
> तुनीर जो वीर विलासिका है।
> तिल सून प्रसून ह्व खेत गिरे
> गुहा सेवक सिद्ध निकासिका है।

हिन्दी में नासिका पर कदाचित् केशवदास की निम्नलिखित उक्ति से अधिक अच्छी उक्ति किसी ने नहीं कही है, जिसमें नासिका का सौन्दर्य वर्णित है।

> केशव सुगन्ध स्वास सिद्धन की गुफा कैधौं
> परम प्रसिद्ध शुभ शोभन सुवासिका।
> कैधौं मनमथ मनमीन की सुवेनी कैधौं
> कुन्दन की सींव लोल लोचन विलासिका॥
> मुकुता मणिन की है मुकुत पुरी सी कैधौं
> कैधौं सुर सेवत हैं काशी की प्रकाशिका।
> त्रिभुवन रूप तको तुङ्ग तोयनिधि ताके
> तोय की तरङ्ग कै तरुनि तेरी नासिका॥

अधर बिम्बफल के समान कहा जाता है। इनमें आकृति का सादृश्य उतना नहीं जितना प्रकृति का। अधर की प्रकृति भी सरस और रक्तवर्ण है। कोमलता के लिए पल्लव की उपमा अधिक अच्छी है और वर्ण के लिए प्रवाल। बन्धुजीव (दुपहरिया) अधर और ओठ दोनों की आकृति से अधिक समता रखता है।

> बन्धुजीव को दुखद है अरुन अधर तुव बाल।
> दास देत यह क्यों डरै पर जीवन दुख जाल॥

मुख के दूसरे अंशों की अपेक्षा चिबुक जड़ है। भ्रू, नासिका,

नेत्र, अधर, आदि अङ्गों पर भावों का प्रत्यक्ष प्रभाव दिखलाई पड़ता है। भाव के आवेग से वे सजीव से हो जाते हैं। परन्तु चिबुक पर ऐसा कोई प्रभाव नहीं दिखलाई पड़ता। इसीसे नासिका, नेत्र, अधर आदि की उपमायें पुष्प, पत्र, मत्स्य लता आदि सजीव वस्तुओं से दी जाती हैं। परन्तु चिबुक के लिए ऐसी कोई उपमा नहीं दी गई है। तो भी एक कवि ने चिबुक की सुन्दरता की बड़ी अच्छी कल्पना की है।

कनक वरण कोकनद के वरण और
झलकति झाँई तामें बसन रदन की।
कीन्हीं चतुरानन चतुर ऐसी रचिपचि
अलप सी चोकी चारु आसन मदन की।
अङ्गुल के धाम उपमान की अवधि सव
सुमिल सुथान मानो श्रीय के सदन की।
सुन्दर सुढार है चिबुक नव नायिका की
कीधों बलभद्र बादशाही है बदन की।

त्रिवली चिह्नित शङ्ख के ऊर्ध्व भाग से कण्ठ की उपमा दी जाती है। इसके सिवा जब कण्ठ शब्द का स्थान है तब शङ्ख से इसकी यह समानता ओर भी बढ जाती है।

सब सुर तीन ग्राम रागन को धाम धन्य
मूर्छना सुताने श्रुतिग्रह मति पैनी को।
कधों चन्द्रमण्डल को परम अधार शुद्ध
उज्ज्वल अनूप स्वच्छ दच्छ पिक बेनी को॥
भने रघुनाथ सील शोभा को निवास यही
प्रीतम की प्रीति की प्रतीति कर दैनी को।
कम्बु ते सुढार रम्य चारु है कपोलहु ते
रम्भा रतिकण्ठ तें सुकण्ठ मृगनैनी को॥

दृढ़ता प्रकट करने के लिए रुद्ध-कपाट से पुरुष के वक्षस्थल की उपमा दी जाती है। कालिदास ने कपाट-वक्षस्थल ही कहा है। कालिदास ने कन्धे की वृष-स्कन्ध से तुलना की है। परन्तु कन्ध का अधिक सादृश्य करि-कर से है। प्रकोष्ठ वाल, कदली-काण्ड के तुल्य दिखलाया जाता है और अँगुली शिम्बी-फल के तुल्य। स्त्रियाँ करभोरु कही जाती हैं।

कोमल कमल मुखी तेरे ये जुगुल जानु
मेरे वलवीर जू के वलहिँ हरत हैं।
सौरभ सुभाय सुभ रम्भा के सुखमा अरु
केशव करभ हूं की शोभा निदरत हैं॥
कोटि रतिराज सिरताज ब्रजराज की सौं
देखि देखि गजराज लाजनि मरत हैं।
मोचि मोचि मद रुचि सकल सकोचि सोचि
सुधि आये सु डनि की कुडरी करत हैं।

कर और पद के लिए पल्लव और कमल की उपमा दी गई है।

कञ्चन के पल्लव में छोटी वड़ी लीक मानो
लिख्यौ है उचाट मन्त्र विधि मोह सों भयो।
सुधा की श्रवत मणि माणिक लसत सोहै
आगुरी किरन ज्यों प्रभाकर उद भयो॥
मेंहदी रचित नख केधों मैन पचवाण
सरसान धरे सोनें पानी तिनको दयो।
अम्बर की ओट तें अचानक ही दीठी पर्‍यो
तेरो हाथ देखे मन मेरो हाथ ते गयो॥

हिन्दी साहित्य में अङ्गो के जो आदर्श स्वीकृत किये गये हैं उनका वर्णन हम कर चुके। भिन्न भिन्न अङ्गो के लिए जो उपमायें दी जाती हैं वे काल्पनिक नहीं हैं। उपमेयों और उपमानों

विलक्षण सादृश्य है। इन उपमाओं का आधार अनुभूति है। परन्तु हिन्दी-साहित्य में कवियों ने कल्पना का अत्यधिक आश्रय लिया है। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक ऐसे सौन्दर्य की सृष्टि की जो केवल कल्पना-गम्य है। कटि की क्षीणता दिखलाते दिखलाते उन्होंने कटि का लोप ही कर दिया। प्रायः सभी अङ्गों के वर्णन में यही अस्वाभाविकता है। इस अस्वाभाविकता का कारण यह है कि कवियों की नायिकायें हिन्दू-समाज की गृह-देवियाँ नहीं थीं, किन्तु रसिकों के मनोविनोद के लिए कल्पित प्रतिमायें थीं। जब जाति में अकर्मण्यता आ जाती है तभी ऐसी कल्पित प्रतिमाओं से वह अपना मन बहलाती है। हिन्दी साहित्य में स्त्री-सौन्दर्य का निर्मलतम रूप तुलसीदासजी ने दिखलाया है। हमें उसी सौन्दर्य का गर्व है।

बाह्य सौन्दर्य में हिन्दी-कवियों का ऋतु-वर्णन और नखशिख वर्णन यही दो विषय मुख्य हैं। प्रकृति के साथ हम लोगों की कुछ ऐसी आत्मीयता है कि जब उसमें परिवर्तन होता है तब हमारे हृदय के भावों में भी परिवर्तन हो जाता है। वर्षाकाल में मेघ का आगमन होते ही हम लोगों के हृदय में एक अपरिचित अनिर्वचनीय वेदना होने लगती है। शरद्काल में कमलों के विकास के साथ हम लोगों का भी हृदय-सरोज विकसित होने लगता है। वसन्त के समागम से जब वृक्षों में नवपल्लव का उद्गम होता है, वन में एक महोत्सव की मानो सूचना हो जाती है, तब कोयल की मधुर ध्वनि के साथ ही हमारे हृदय में भी एक अपूर्व माधुरी फैल जाती है, और कोमल भावों का उद्रेक होने लगता है। जो श्रेष्ठ कवि हैं वे प्रकृति के सौन्दर्य के साथ मनुष्य के हृदय की जो आत्मीयता है उसी को प्रकट करते हैं।

हिन्दी के सन्त कवियों ने, जिन्हें सांसारिक जीवन में

विरक्ति होगई थी, प्रकृति के ऋतु परिवर्तन में भी ससार की निस्सारता का ही दृष्य देखा।

> गगन घटा घहरानी साधो—गगन घटा घहरानी।
> पूरव दिसि से उठी बदरिया रिमि झिम बरसत पानी।
> आपन आपन मेड़ सँभारो बह्यो जात यह पानी।
> मन के बैल सुरत हरवाहा जोत खेत निरवानी।

तुलसीदासजी ने भी वर्षा और शरद्-ऋतु के वर्णन के द्वारा कलियुग के लोगों को शिक्षा ही दी है। परन्तु जब हिन्दी में मानवीय भावों की प्रतिष्ठा होने लगी तब ऋतु-वर्णन में कवियों ने हृदय के उल्लास और व्यथा को प्रधानता दी—

> दूरि यदुराई सेनापति सुखदाई देखो
> आई ऋतु पावस न पाई प्रेम पतियाँ।
> धरि जलधर की सुनत धुनि धरकी
> औ दरकी सुहागिनि की छोहभरी छतियाँ॥
> आई सुधि वर की हिये में आन खरकी
> सुमिरि प्राणप्यारी यह प्रीतम की बतियाँ।
> बीति औधि आवन की लाल मनभावन की
> डग भई बावन की सावन की रतियाँ॥

वसन्त के उल्लास को पद्माकर ने एक पद्य में खूब अच्छे तरह व्यक्त किया है—

> कूलन में केलि में कछारन में कुजन में
> क्यारिन में कलित कलीन किलकंत है।
> कहै पद्माकर परागहू में पौनहू में
> पातिन में पीकन पलासन पगत है॥
> द्वार में दिशान में दुनी में देश देसन में
> देखो दीप दीपन में दीपित दिगन्त है।

सुमन्त्रा

१—उपक्रम

कहा जाता है कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। यदि हम किसी युग के साहित्य पर दृष्टि डालें तो हमें उसमें तत्कालीन समाज की भावना मिल जायगी। हम जान लेंगे कि उस समय समाज का चिन्ता-स्रोत किधर बह रहा था। उसीसे हम यह भी पता लगा लेंगे कि समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा था अथवा अवनति की ओर जा रहा था। उन्नतिशील समाज की आकांक्षायें सदैव ऊँची होती हैं। वह विघ्न और बाधाओं को अतिक्रमण करने के लिए उद्यत रहता है। उसकी ज्ञान लिप्सा बढ़ी रहती है और वह सत्य के अनुसन्धान में लगा रहता है। उसकी आशा भविष्य में रहती है। परन्तु जब समाज की मानसिक शक्ति का ह्रास होने लगता है तब वह अपने अतीत गौरव को ही दृढ़ता से पकड़ना चाहता है। वह भविष्य की चिन्ता छोड़ कर वर्तमान में ही सन्तुष्ट हो जाता है। उसकी आकांक्षायें परिमित हो जाती हैं। एक संकुचित क्षेत्र में ही वह अपने ज्ञान का विकास देखना चाहता है। उस क्षेत्र के बाहर जाने का साहस उसे नहीं होता। समाज की यही दो अवस्थायें हैं, एक उसकी तरुणावस्था कही जा सकती है और दूसरी उसकी वृद्धावस्था। वृद्धावस्था में समाज की दृष्टि अतीत में ही आबद्ध रहती

है और तरुणावस्था में वह भविष्य की ओर देखता है। मर्यादा की रक्षा और प्राचीन परम्परा की अभिज्ञता वृद्धावस्था का फल है। तरुणों का शास्त्र है उनकी आशा, उनका आदर्श, उनकी आकांक्षा और उनका उत्साह। वृद्ध सदैव प्राचीन शास्त्रों की दुहाई देते हैं। वे यही कहते रहते हैं कि देखो, इस पथ को आज तक किसी ने ग्रहण नहीं किया। अतएव यह दूषित पद्धति है। इसे छोड़ देना ही श्रेयस्कर है। परन्तु तरुण उनकी बात नहीं सुनते। फल न मिलने पर भी उनकी आशा नहीं टूटती, क्योंकि उनकी दृष्टि भविष्य की ओर लगी रहती है। इन्हीं दो अवस्थाओं में दो प्रकार के साहित्य की सृष्टि होती है। पहली अवस्था में, साहित्य में ज्ञान की पुनरावृत्ति होती है और दूसरी अवस्था में नवीन ज्ञान का प्रचार होता है। पहला साहित्य परीक्षा करता है और दूसरा सृष्टि करता है। एक को समाज पर अवलम्बित होना पड़ता है। और दूसरा समाज का विरोध करता है। वही साहित्य समाज के भविष्य पथ को निर्दिष्ट करता है। वही यथार्थ में अपने युग के विशेषत्व का द्योतक है। उसी में युग की उच्चतम आकांक्षा प्रकट होती है। वही उन आदर्शों की सृष्टि करता है जो समाज में प्रचलित होते हैं। आधुनिक युग में जो नवीन चिन्ता स्रोत बह रहा है उसी की समीक्षा करने से हम आधुनिक युग का विशेषत्व जान सकेंगे।

भारतवर्ष चिरकाल से दासत्व की शृङ्खला में बद्ध पड़ा हुआ है। इससे भारतीयों के चित्त की स्वाधीनता बिलकुल नष्ट हो गई थी। मनुष्यों में उनका मनुष्यत्व चिरकाल तक छिपा नहीं रहता। सङ्घर्षण होते ही आग की तरह वह जल उठता है। यह उसका स्वाभाविक धर्म है। भारतवर्ष सोया हुआ था। संसार से अपने को पृथक् कर वह पृथ्वी के एक कोने में निश्चेष्ट पड़ा

हुआ था। जीवन का विशाल-समुद्र उसके घर तट पर हिलोरें ले रहा था। पर उसने अपने घर को चारों ओर से अच्छी तरह बन्द कर रक्खा था। इसलिए जीवन-समुद्र का गर्जन भी उसके कानों तक नहीं पहुँचता था। पर कब तक ऐसी दशा रहती? अन्त में एक ऐसी बड़ी लहर उठी कि उसने भारत की जीर्ण चौहद्दी को तोड़ डाला। भारत के घर के भीतर भी जीवन की लहरें उठने लगीं। भारतवर्ष में जीवन का यह प्रवाह बड़े वेग से बहने लगा है।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पाश्चात्य देशों में विज्ञान-शास्त्र की बड़ी उन्नति हुई। वह वैज्ञानिक युग था। जीवन के सभी विषयों में विज्ञान की उपयोगिता प्रमाणित हो गई। अभी तक मनुष्य प्रकृति की वश्यता स्वीकार करता था, परन्तु अब उसने विज्ञान के द्वारा प्रकृति को पराभूत करने का प्रयत्न किया। इस का फल यह हुआ कि प्रकृति मनुष्य से दूर हट गई। मनुष्यों के जीवन में सरलता का स्थान जटिलता ने ले लिया। जिस विज्ञान के बल से मनुष्य प्रकृति पर जय पाने की आशा करता था वही उसका स्वामी बन बैठा। मनुष्य विज्ञान का दास हो गया।

इसमें सन्देह नहीं कि विज्ञान की उन्नति से योरप की भौतिक प्रभुता खूब बढ़ गई। उसने वाणिज्य-व्यापार में बड़ी तरक्की की। व्यवसाय की समृद्धि से सम्पत्ति की वृद्धि हुई और सम्पत्ति की वृद्धि से विलासिता बढ़ी। किसी ने कहा है कि अभावों की वृद्धि को सभ्यता कहते हैं। विलासिता के बढ़ने से मनुष्यों के अभावों की भी खूब वृद्धि हुई। इन सब की पूर्ति के लिए विज्ञान का सहारा लिया गया। इस प्रकार आधुनिक योरप की सभ्यता का सङ्गठन हुआ।

जब भारतवर्ष में पाश्चात्य विज्ञान के आलोक ने प्रवेश किया

नव भारतवासी उसकी चमक-दमक देखकर चकित हो गये। उन्होंने समझा कि यही स्वर्गीय ज्योति है, इसीसे हमारा अज्ञान तम दूर होगा। उन्हें अपनी वर्तमान स्थिति से असन्तोष हुआ। उन्होंने योरप को अपना आदर्श मान कर उसीके समान अपने सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक जीवन की रचना करना चाहा। क्रमश उसका प्रभाव बढ़ता गया। इसका फल यह हुआ कि भारतवर्ष के घर में अशान्ति फैल गई। बात यह है कि भारतवर्ष और योरप की सभ्यता में बड़ा भेद है। भारतवर्ष की सभ्यता की उत्पत्ति उसके शान्त तपोवन में हुई है। पाश्चात्य सभ्यता की सृष्टि उसके नगरों में हुई है। भारतवर्ष का मन चिरकाल तक विश्व प्रकृति के साथ घनिष्ठ रहने से ही गढ़ा गया है। परन्तु योरप ने प्रकृति के विरुद्ध अपने जीवन का सङ्गठन किया है। भारतवर्ष के लिए जगत् की जड़-चेतन-सृष्टि के साथ अपने को एकात्मभाव से मिला देना बिलकुल स्वभाव सिद्ध है। परन्तु योरप प्रकृति की सृष्टि से अपने को पृथक् कर उस पर अपना प्रभुत्व आवश्यक समझता है। भारतवर्ष में ऋषि विश्व का दर्शन कर यही कहा करते थे—

यो देवोऽग्नौ यो ऽप्सु यो विश्वभुवनमाविवेश।
य ओषधिषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनम ॥

अर्थात् जो देवता, अग्नि में, जल में, विश्व भुवन में, प्रविष्ट हो रहा है और जो ओषधियों में तथा वनस्पतियों में है उसे नमस्कार हो, नमस्कार हो। अब विश्व-दर्शन का क्या परिणाम होगा, यह एक कवि के निम्नलिखित पद्यों से सूचित होता है—

Let observation with extensive view
Survey mankind from China to Peru,

Remark each anxious toil, each eager strife
And mark the busy scenes of crowded life

अर्थात् यदि कोई चीन से पेरू तक समस्त संसार पर दृष्टि पात करे तो वह यही देखेगा कि मनुष्य अपने जीवनसंग्राम में कितनी उत्कण्ठा से लगा हुआ है।

योरप के साथ मिलने के पहले भारतवर्ष अतीतकाल में ही रहा करता था। अतीत में ही वह भविष्य का सुखस्वप्न देखा करता था। परन्तु योरप ने उसका सुख-स्वप्न भङ्ग कर उसे अतीत से वर्तमान में ला दिया। उस समय वह हृत्-सर्वस्व मनुष्य के समान किंकर्तव्य विमूढ हो गया है। इस समय वह स्वाधीनता के लिए उत्सुक हो गया है। परन्तु इसीके साथ यहाँ व्यक्ति और समाज, समाज और राष्ट्र, धर्म और आचार की कितनी ही समस्यायें उपस्थित हो गई हैं। आधुनिक साहित्य में इन्हीं का समाधान करने की चेष्टा की जाती है।

भारतीयों में स्वाधीनता के भाव जाग्रत होने का एक परिणाम यह हुआ है कि अब वे सर्वत्र पराधीनता की शृङ्खला को तोड़ देना चाहते हैं। स्वाधीनता का यह भाव केवल राजनैतिक क्षेत्र में ही परिमित नहीं है। जो हमारे देश के नेता हैं, वे केवल विदेशियों का आधिपत्य ही दूर करना नहीं चाहते। वे यह भी चाहते हैं कि देश की उन्नति के मार्ग में, उसकी स्वाधीनता-प्राप्ति की चेष्टा में, यदि किसी सम्प्रदाय या समाज का प्रभुत्व बाधक हो रहा है तो वह भी दूर कर दिया जाय। समाज और धर्म में जो उनकी स्वाधीनता का बाधक है वह अश्रेयस्कर है और इसलिए वे उसे भी निर्मूल कर देना चाहते हैं। सारांश, देश अब स्वाधीनता चाह रहा है, और कुछ नहीं। अच्छा, यह स्वाधीनता है क्या? प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छा के अनुसार

अपनी उन्नति करने का पूरा अधिकार है। यदि उसे यह अधिकार प्राप्त है तो वह स्वाधीन है। यदि वह अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी दूसरे से निर्दिष्ट पथ पर चलने के लिए बाध्य किया जाता है तो वह स्वाधीन नहीं है। स्वाधीनता में इच्छानुसार काम करने का अधिकार होना चाहिए। परन्तु यथेच्छाचार स्वाधीनता नहीं है। हम इष्ट-सिद्धि के लिए जो पथ चाहें ग्रहण कर लें, पर दूसरो का अनिष्ट करने का तो हमे अधिकार नहीं है। यदि हमने अपनी उन्नति के लिए ऐसे उपायों का अवलम्बन किया जिनसे दूसरों की उन्नति का द्वार अवरुद्ध होजाता है तो यह हमारी स्वाधीनता नहीं, यथेच्छाचार है। किसी भी व्यक्ति को यह अधिकार नही होना चाहिए कि वह दूसरों का अनिष्ट करे। कोई भी स्वाधीन व्यक्ति अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए न तो देश का अहित कर सकता है, न समाज का, न अन्य व्यक्तियों का, यहाँ तक कि वह अपने पुत्र और स्त्री का भी अहित नहीं कर सकता। इसीसे व्यक्ति के यथेच्छाचार को रोकने के लिए देश, राष्ट्र या समाज के द्वारा कुछ नियम बनाये जाते हैं, उन नियमों का अनुसरण करना ही पड़ता है। तभी लोगों की स्वाधीनता अक्षुण्ण रह सकती है। व्यक्ति का समाज के साथ जो सम्बन्ध है, उसे दृढ करने के लिए समाज अपनी एक मर्य्यादा स्थिर करता है, उस मर्य्यादा का जो व्यक्ति उल्लङ्घन करेगा वह समाज के द्वारा दण्डय है। यही सामाजिक धर्म कहलाता है। व्यक्ति का देश और राष्ट्र से भी सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को अक्षुण्ण रखने के लिए देश या राष्ट्र की ओर से व्यक्तियों के स्वाधीनता की एक सीमा निश्चित कर दी जाती है। वह सीमा भी अलङ्घ्य है, केवल व्यक्ति के लिए नहीं, समाज के लिए भी। कोई देश या राष्ट्र प्रबल होने पर दूसरे निर्बल राष्ट्रों पर अत्याचार कर सकता है। उस अत्याचार के

रोकने के लिए अभी तक ऐसी कोई योजना नहीं हुई है जिससे निर्बल राष्ट्रों पर प्रबल राष्ट्रों का अत्याचार बन्द हो जाय। न्याय-प्रियता मनुष्य के स्वभाव में है। केवल वही राष्ट्र का नियन्त्रण करती है। बात यह है कि अकेला व्यक्ति स्वयम् कुछ नहीं कर सकता। समाज के रूप में सङ्गठित होने पर उसकी शक्ति बढ़ जाती है। राष्ट्र हो जाने पर तो उसकी यह शक्ति अदम्य हो जाती है। परन्तु मनुष्यों में न्याय, दया, सत्य आदि ऐसे गुण हैं जिन पर मनुष्य मात्र का अनुराग है। उन गुणों का तिरस्कार करने पर स्वयम् एक लाञ्छना सहनी पड़ती है। जिसे हम धर्म कहते हैं वह इन्हीं गुणों का प्रचार करता है। धर्म का सिद्धान्त मनुष्य मात्र के लिए है, चाहे वह किसी भी समाज, राष्ट्र या देश का हो। यही धर्म का यथार्थ स्वरूप है। यही उसकी यथार्थ महिमा है। वह जितना एक व्यक्ति के लिए आवश्यक है, उतना ही एक समाज और एक देश के लिए भी आवश्यक है। उसी का अनुसरण कर कोई व्यक्ति अपनी यथार्थ उन्नति कर सकता है। धर्म के पथ पर रहने से ही किसी समाज या राष्ट्र का कल्याण हो सकता है। परन्तु जो धर्म यथार्थ में श्रेयस्कर है उसका अनुशासन मानने के लिए कोई बाध्य नहीं। समाज की मर्य्यादा भङ्ग करने से उसे समाज का दण्ड भोगना पड़ता है। देश या राष्ट्र के विरुद्ध चलने से वह तुरन्त ही शासित होता है। परन्तु धर्म का अनुसरण करना उसकी इच्छा पर निर्भर है। धर्म विरुद्ध चलकर भी लोग समाज और राष्ट्र के नियमों का पालन कर सकते हैं। यही कारण है कि सभी देशों और सभी समाजों में दुराचारों और दुर्नीति का अस्तित्व है। जो देश या राष्ट्र स्वाधीन हैं, जो सभ्यता के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, जो उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके हैं, उनमें भी दुराचारों की वृद्धि हो रही है। परन्तु सच पूछिए तो

क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र, सभी के अध पतन का मुख्य कारण धर्मच्युत होना है। अतएव चाहे राष्ट्रीय स्वाधीनता हो या सामाजिक स्वाधीनता, जब तक वह धर्म विहीन है तब तक उससे कल्याण होने का नहीं है। त्याग और सयम, सत्य और न्याय, यही सच्ची स्वाधीनता के आधार हैं। इस आधार के बिना स्वाधीनता का ऐसा कोई भी मन्दिर निर्मित नहीं हो सकता जहां विलासिता और अनाचार का ताण्डव नृत्य न हो। इसी से भारतवर्ष में स्वाधीनता के उपासकों को अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते समय धर्म का यह यथार्थ स्वरूप न भूल जाना चाहिए।

२—व्यक्ति-समस्या



भारतवर्ष में स्वातन्त्र्य का जो आन्दोलन हो रहा है उसको हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। एक का सम्बन्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता से है। उसका लक्ष्य है भारतवर्ष की स्वाधीन राष्ट्रीयता। दूसरे में हिन्दू-समाज के अन्तर्गत पराधीनता के प्रति विद्रोह है, जिसके कारण सभी लोगों को समाज में समान स्थान प्राप्त नहीं है। तीसरे का उद्देश हिन्दू परिवार में स्त्रियों को पुरुषों के प्रभुत्व से मुक्त करना है। इस प्रकार राष्ट्रीय स्वाधीनता, सामाजिक स्वाधीनता और पारिवारिक स्वाधीनता, यही आधुनिक भारतवर्ष की सबसे बड़ी समस्या है। पहले पारिवारिक समस्या को लीजिए।

हिन्दी-साहित्य में ऐसे उपन्यासों और आख्यायिकाओं की वृद्धि हो रही है जिनमें हिन्दू-समाज के गार्हस्थ्य जीवन के कुत्सित चित्र दिये जाते हैं। उनमें स्त्रियों के अनाचार और पुरुषों के अत्याचार वर्णित होते हैं। उनसे यही प्रतीत होता है कि हिन्दू-समाज की बड़ी दुरवस्था है। हिन्दू-समाज में एक नहीं, अनेक दोष उत्पन्न हो गये हैं। इन दोषों के दूर करने से ही समाज का कल्याण हो सकता है। अतएव

जो समाज के शुभचिन्तक हैं उनका यह कर्त्तव्य है कि समाज के दोषों की अच्छी तरह परीक्षा करें। कितने ही विद्वानों की राय है कि साहित्य में समाज के कुत्सित चित्र अङ्कित नहीं किये जाने चाहिए। परन्तु यह उनका भ्रम है। समाज का रोग दूर करने के लिए आँख मूंद लेने से काम नहीं चलेगा। जो घटनायें हमारे समाज में प्रति दिन हो रही हैं उनकी उपेक्षा करने से समाज में दुराचारों की वृद्धि ही होगी। यदि आदर्श चरित्रों की सृष्टि करने से समाज में दुराचार दूर हो जाते तो हिन्दू साहित्य में आदर्श चरित्रों के विद्यमान होते हुए भी हिन्दू-समाज में अनाचारों की वृद्धि न होती। समाज की यथार्थ स्थिति जानने के लिए हमें समाज की वीभत्स लीलाओं पर विचार करना ही होगा। परन्तु यह काम बड़े उत्तरदायित्व का है। केवल कल्पना के द्वारा समाज का विकृत चित्र खींच कर उसमें दोषों की उद्भावना करने से समाज का कोई कल्याण नहीं हो सकता।

जब कोई अपनी उद्दाम वासना के कारण उन्मत्त होकर असत् पथ पर जाता है तब हमें समझ लेना चाहिए कि यह उसकी विकृत अवस्था है, मानसिक रोग का प्रकोप है, और एक चिकित्सक की तरह हमें उस रोग का निदान जानने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जो लोग बाल विवाह का दुष्परिणाम दिखाने के लिए एक हिन्दू युवती को विधवा बनाकर उससे घोर पाप करा डालते हैं उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि जिस समाज में बाल विवाह की प्रथा प्रचलित नहीं है और जहाँ विधवाओं का पुनर्विवाह होता है वहाँ भी दुराचारों का अभाव नहीं है। स्त्रियों और पुरुषों के नैतिक पतन का सबसे बड़ा कारण है काम-वासना। मनुष्यों की पाशविक प्रवृत्तियों में यह वासना सबसे अधिक प्रबल होती है। असंयतवासना स

निन्द्य है। सभी समाजों में मनुष्यों की अस्वाभाविक दुष्प्रवृत्तियों को रोकने के लिए चेष्टा की जाती है। परन्तु विकृत अवस्था में ही यह उद्दाम होती है। स्वाभाविक अवस्था में मनुष्य का नैतिक-पतन हो नहीं सकता। पुरुषों के प्रति स्त्रियों का और स्त्रियों के प्रति पुरुषों का जो स्वाभाविक आकर्षण होता है उसका केवल वासना की तृप्ति में ही अन्त नहीं हो जाता। वह प्रेम के रूप में परिणत हो जाता है। तब उससे सहानुभूति और सेवा के भाव जाग्रत होते हैं और अन्त में आत्मोत्सर्ग। प्रेम का अन्त आत्मोत्सर्ग में है। सभी देशों के साहित्य में आत्मोत्सर्ग ही प्रेम का आदर्श माना गया है। हिन्दू-समाज में भी यही आदर्श प्रचलित है। उसी से हिन्दू विधवायें आजीवन वधव्य स्वीकार कर लेती हैं।

परन्तु विचारणीय यह है कि हिन्दू-परिवार में क्या स्त्री और पुरुष के यथार्थ सम्बन्ध में कुछ ऐसे दोष हैं जिनसे स्त्रियों या पुरुषों का, स्वाभाविक अवस्था में भी, पतन हो सकता है। बङ्किम बाबू की रोहिणी के साथ प्रेमचन्द्रजी की सुमन की तुलना कीजिए। रोहिणी विधवा है, युवती है, सुन्दरी है। उसके हृदय में वासना है, परन्तु वह गुप्त है। वह वासना इतनी उद्दाम नहीं है कि वह लोक-लज्जा या समाज की मर्यादा का उल्लङ्घन कर जाय। परन्तु एक बार गोविन्दलाल ने उसके प्राणों की रक्षा के लिए कुछ दिनों तक उसको एक घर में छिपा कर रक्खा। उस समय गोविन्दलाल का हृदय चञ्चल नहीं हुआ, यह बात नहीं है। रोहिणी के सौन्दर्य्य ने उसके हृदय को क्षण भर के लिए क्षुब्ध अवश्य किया। परन्तु वह उद्दाम नहीं हुआ। परन्तु कुछ ही दिनों के बाद रोहिणी को लेकर गोविन्द भाग गया। उस समय उसने अपनी सती, प्रियतमा, पत्नी का विचार नहीं किया। उसने लोक-लज्जा को भी तिलाञ्जलि दे दी। स्वाभाविक

अवस्था में यह सम्भव नहीं था। तब उनकी यह अस्वाभाविक अवस्था क्यों हुई? समाज ने उसके चरित्र की पवित्रता पर विश्वास क्यों नहीं किया? लोगों को उसके चरित्र पर सन्देह क्यों हुआ? अब सुमन का चरित्र लीजिए। सुमन के हृदय में लालसा अवश्य थी। परन्तु उसी लालसा से उसका चरित्र भ्रष्ट न होता। उसके चरित्र में इतनी दृढ़ता है। परन्तु जब वह अपने पति के अनुचित सन्देह के कारण घर से तिरस्कार-पूर्वक निकाल दी गई तब उसने वेश्या-वृत्ति स्वीकार कर लेने में सङ्कोच नहीं किया। इससे स्पष्ट है कि हिन्दू-समाज में पति पत्नी या स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध में कुछ त्रुटि अवश्य है। एक अँगरेज़ रमणी अपने पति के अन्याय-युक्त सन्देह का तिरस्कार कर अलग हो सकती है, परन्तु वह चरित्र भ्रष्ट नहीं होगी। उसकी वासना ही उसे सत्पथ से हटा सकती है। सुमन और रोहिणी पाश्चात्य समाज में सम्भव नहीं हैं, क्योंकि पाश्चात्य समाज में स्त्रियों को सामाजिक स्वाधीनता प्राप्त है। वहाँ भी स्त्रियों को पुरुषों का अत्याचार सहना पड़ता है। परन्तु उसका कारण यह है कि वहाँ स्त्रियों ने अभी तक यथेष्ट आर्थिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त की है।

भारतवर्ष में आज-कल स्त्री-स्वातन्त्र्य के सम्बन्ध में जो आन्दोलन हो रहा है वह समाज में स्त्री और पुरुष का यथार्थ सम्बन्ध निश्चित कर देना चाहता है। जो स्त्री स्वातन्त्र्य के पक्ष में हैं उनका कथन है कि पुरुष-जाति ने केवल अपनी शारीरिक शक्ति के कारण स्त्रियों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है। समाज में पुरुषों का प्राधान्य उनके नैतिक गुणों के कारण नहीं है। सच पूछिए तो समाज में दुराचारों की वृद्धि के कारण पुरुष ही हैं। स्त्रियों का कोई अपराध क्षन्तव्य नहीं है। जो

पुरुष स्त्रियों को विपथ पर लेजाते हैं वे स्वयं अपराधों के दण्ड से बच जाते हैं। यही नहीं, समाज में उनके लिए उन्नति का द्वार उन्मुक्त रहता है। परन्तु विपथ-गामिनी स्त्रियों के लिए समाज के सभी मार्ग अवरुद्ध हैं। एक बार कर्तव्य-च्युत होने के बाद उनका अध पतन ही होता जाता है। पतिता स्त्रियों के उद्धार के लिए समाज ने कभी चेष्टा नहीं की। जो देश सभ्य कहलाते हैं उनमें वेश्याओं की वृद्धि क्यों हो रही है? धन पर पुरुषों का अधिकार होने के कारण स्त्रियों को विवश होकर यह नीच वृत्ति स्वीकार करनी पड़ती है। सच्ची बात तो यह है कि स्त्रियाँ पुरुषों के सुखोपभोग की सामग्री हो गई हैं। सभी अवस्थाओं में उन्हें पुरुषों की सेवा ही करनी पड़ती है। स्त्री और पुरुष का यह सम्बन्ध क्या उचित है? यह सच है कि स्त्रियों की शारीरिक गठन पुरुषों से कुछ भिन्न है और इसी से उनका कार्य-क्षेत्र पुरुषों के कार्यक्षेत्र से कुछ पृथक् हो जाता है। परन्तु समाज में तो नका स्थान होना चाहिए, उन्हें उन्नति के लिए यथेष्ट अवसर लना चाहिए। परन्तु पुरुषों ने सर्वत्र अपना आधिपत्य जमा या है। स्त्रियाँ उनकी आज्ञानुवर्तिनी ही होकर रह सकती हैं। या यह समाज की उन्नति के लिए श्रेयस्कर है? न जाने कब स्त्रियाँ पुरुषों का प्रभुत्व स्वीकार करती आ रही हैं। परन्तु माज में विलासिता और दुराचारों का अन्त कभी नहीं हुआ। स्त्रियों पर सदैव अत्याचार होता ही रहा है और उन्हें चुपचाप रुषों के अत्याचार सहने पड़े हैं। अब समाज उनके लिए कौन नीति निर्दिष्ट करना चाहती है? क्या वह उन्हें यथेष्ट स्वाधीनता देने के लिए उद्यत है?

हिन्दू-समाज की सब से बड़ी विशेषता यह है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता के आदर्शों से अभी तक उसका सम्बन्ध बना

हुआ है। सीता और सावित्री काव्यों के पात्र नहीं हैं। उन्हीं की पतिभक्ति और पातिव्रत के आदर्श पर हिन्दू-नारी का जीवन ठहरा हुआ है। भगवान् रामचन्द्र या कृष्णचन्द्र केवल पूजनीय नहीं हैं, अनुकरणीय हैं। हिन्दू-मात्र का विश्वास है कि धर्म की ही रक्षा के लिए ये सब पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे। इसी से पति भक्ति और पति-सेवा में ही लोग स्त्री-जीवन की सफलता देखते हैं। ब्राह्मणों को भूसुर मानकर वे अभी तक उन्हें पूज्य समझते हैं। उनका विश्वास है कि प्राचीन काल की जो रीति या नीति है वह सर्वथा निर्दोष है। उनका कथन है कि भारत वर्ष ने प्राचीनकाल में ही अपनी एक विशेष सभ्यता स्थापित कर ली है। उस सभ्यता का मूल धर्म है। प्राचीनकाल से आज तक उसने अपनी इस विशेषता को नहीं छोड़ा है। उसकी यह विशेषता उसके प्राचीन साहित्य के आदर्श चरित्रों में प्रकट हुई है। भगवान् रामचन्द्र, भीष्मपितामह, धर्मराज युधिष्ठिर आदि के पुनीत चरित्रों से यह जाना जा सकता है कि हिन्दूसमाज का लक्ष्य क्या है। पाश्चात्य सभ्यता के आदर्शों से हमारे समाज का कल्याण नहीं हो सकता। हिन्दू-धर्म में आचार की बड़ी महिमा है। वही परम धर्म माना गया है। आचार-भ्रष्ट लोगों से समाज में दुर्नीति ही फैल सकती है। यह कुसस्कार नहीं है, जातीय सस्कार है। समाज में सदैव आचार की पवित्रता की रक्षा की जानी चाहिए। सामाजिक बन्धनों में शिथिलता आने से ही समाज की मर्यादा भङ्ग हो जाती है।

परन्तु धर्म और आचार में भेद क्या है? क्या सदाचार से अतिरिक्त कोई धर्म है? सदाचार के लिए क्या न्याय, दया, क्षमा, शौर्य, परोपकार, धैर्य, इन्द्रिय-दमन आदि गुणों के अतिरिक्त भी किसी ऐसे गुण की आवश्यकता है जिसका सम्बन्ध किसी

जाति-विशेष से है ? कहा जाता है कि लोक-मर्यादा की रक्षा के लिए भगवान् रामचन्द्र ने सीताजी को निरपराधिनी जान कर भी परित्याग कर दिया। क्या यह उचित है ? विचारणीय यह है कि क्या समाज की मर्यादा के लिए व्यक्ति पर अन्याय किया जा सकता है।

जिसे हम समाज कहते हैं वह कुछ रीतियों का अनुसरण करना ही जानता है। वह व्यक्ति को न देख कर रीति को देखता है। उसका सम्बन्ध वैवाहिक पद्धति से है, वर-वधू से नहीं। वह कार्य को देखता है, भाव को नहीं। जब तक समाज में इसी प्रकार मानवीय भावों की उपेक्षा की जायगी तब तक व्यक्ति और समाज का संघर्ष कभी दूर नहीं हो सकता। धर्म के पथ पर जो लोग सदैव बने रहते हैं उन्हें भी समाज की निन्दा, अवज्ञा और लाञ्छना सहनी पड़ती है। सत्य की रक्षा के लिए भी कितने ही लोगों को अपने प्राण देने पड़े हैं। बात यह है कि समाज या राष्ट्र निर्जीव यन्त्र की तरह निर्दिष्ट पथ पर ही चल सकता है। परन्तु जो सच्चा धर्म है वह समाज की कृत्रिम विधियों से बद्ध नहीं है। यही कारण है कि धार्मिक व्यक्ति को जो काम करने में सङ्कोच होता है वह समाज या राष्ट्र को नहीं होता। सीता के परित्याग अथवा शूद्रक के वध में भगवान् रामचन्द्र को व्यथा नहीं हुई, यह बात नहीं है। परन्तु समाज को कुछ व्यथा नहीं हुई। समाज के नाम से लोग अन्याय कर सकते हैं। धर्म के नाम से लोग अत्याचार कर सकते हैं। इसका कारण यही है कि हम लोगों ने समाज या राष्ट्र में मानवीय भावों को अलग कर दिया है। जो धर्म मनुष्य मात्र के लिए है, जिसमें सहानुभूति, दया, क्षमा, प्रेम और न्याय है, वही समाज या राष्ट्र का आधार होना चाहिए। इनकी उपेक्षा कर कोई भी

समाज अपनी उन्नति नहीं कर सकता। हिन्दूसमाज के जितने विधि-विधान हैं उनकी परीक्षा यही धर्म कर सकता है और जो विधि-विधान उसकी कसौटी पर ठीक नहीं उतरेंगे वे सर्वथा त्याज्य हैं।

३—समाज-समस्या

जातीय जीवन के साथ जातीय साहित्य का घनिष्ट सम्बन्ध है। जातीय साहित्य में जातीय जीवन की ही अभिव्यक्ति होती है। जाति की उन्नतावस्था में उसमें ज्ञान स्पृहा भी प्रबल होती है। जहाँ वह अपनी क्षमता बढ़ाने के लिए प्रयत्न करती है वहाँ वह नूतन तथ्यों को भी खोजने में व्यस्त रहती है। ज्यों ज्यों उसके ज्ञान की वृद्धि होती है, ज्यों ज्यों वह नूतन तथ्यों का संग्रह करती है त्यों त्यों उसकी क्षमता भी बढ़ती जाती है। सभी देशों के इतिहास में हम यही बात देखते हैं। प्राचीन-काल में जब भारत की ऊर्जितावस्था थी तब यहाँ ज्ञान की भी खूब चर्चा थी। साहित्य के सभी अङ्गों की उस समय वृद्धि हुई। ग्रीस और रोम के अभ्युदय-काल में वहाँ काव्य नाटक, दर्शन और विज्ञान की श्री-वृद्धि हुई। मध्य-युग में मुसलमानों का प्रभुत्व हुआ और उसी के साथ ज्ञान पर भी उनका आधिपत्य स्थापित हुआ। आधुनिक युग में पाश्चात्य देशों में जितनी राजनैतिक क्षमता है उतनी ही ज्ञान-स्पृहा भी है। कितने ही कारणों से जाति का ह्रास होता है। विलासिता, दुर्नीति, अहङ्कार आदि दोष उत्पन्न हो जाने से जाति की शक्ति क्षीण होने लगती है।

तब उनकी ज्ञान-स्पृहा भी नष्ट हो जाती है। जिज्ञासा का स्थान अन्धविश्वास ले लेता है और तर्क का हठ और दुराग्रह। उस समय अज्ञान की वृद्धि हो जाने से जाति में अनुदारता और असहिष्णुता के भाव भी आ जाते हैं। अनुदारता और असहिष्णुता, धर्मान्धता और उग्रता का कारण अज्ञान ही है। जो जाति अध पतित हो रही है उसके साहित्य में उदात्त भावों का समावेश कहाँ से हो। परन्तु जब जाति में नवजीवन के लक्षण प्रकट होने लगते हैं तब साहित्य में भी एक नवीन स्फूर्ति-सी आ जाती है। उस समय जाति के साथ साहित्य भी उन्नति के पथ पर अग्रसर होने लगता है। जो जाति यह चाहती है कि उसका साहित्य महत् हो उसको अपने जीवन में भी महत्ता लाने का प्रयत्न करना चाहिए, केवल सरस भावों के विन्यास अथवा कोमल कल्पना के विलास से जाति में न तो महत् साहित्य की सृष्टि होती है और न उसकी क्षमता ही बढ़ती है।

आज-कल हमारे देश के सभी समाचार-पत्रों में ऐसे समाचार प्रकाशित होते हैं जिनसे यही जान पड़ता है कि हम लोगों की स्थिति बड़ी निराशाजनक है। कितने ही विद्वानों का कथन है कि हिन्दू-समाज में धर्म की बड़ी महिमा है। हिन्दू-समाज के आचार-व्यवहार, सभी में धर्म का भाव विद्यमान है। स्वयं हिन्दू जाति को अपनी इस धार्मिकता का गर्व है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि धर्म की विद्यमानता में भी हिन्दू-समाज में अनाचारों की वृद्धि हो रही है। हिन्दी के समाचारपत्रों में हिन्दू बालिकाओं पर बलात्कार किये जाने के समाचार प्राय प्रतिदिन ही छपते हैं, इससे इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि हिन्दू-समाज में धर्म के प्रति श्रद्धा चाहे जितनी हो, धार्मिक भावों में कुछ शिथिलता अवश्य आ गई है। उनमें मनुष्यत्व का

हाल भी हो रहा है। नहीं तो ऐसे पाशविक अत्याचारों के समाचार ही न निकलते।

कुछ समय से हिन्दू-समाज में सङ्गठन और शुद्धि का आन्दोलन हो रहा है। इसी आन्दोलन के कारण हिन्दू और मुसलमानों में वैमनस्य भी हो गया है। हिन्दू और मुसलमानों की समस्या ने अब उग्ररूप धारण कर लिया है। हिन्दू-पत्र हिन्दुओं को सावधान कर रहे हैं और मुसलमान-पत्र मुसलमानों को। दोनों जाति के लोगों को यह आशङ्का हो रही है कि उन के धर्म के मूल पर कुठाराघात हो रहा है। यदि ये लोग सावधान नहीं होंगे तो उनके धर्म का अस्तित्व ही न रहेगा। धर्म-नाश की इस आशङ्का ने दोनों को विचलित कर दिया है और दोनों स्वधर्म-रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गये हैं। धर्म की रक्षा करना सचमुच प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है, परन्तु ऐसा कोई भी धर्म न होगा जिसका यह उद्देश हो कि मनुष्य अपने मनुष्योचित गुणों को भूल कर धर्म की रक्षा करे। दुर्बलों पर अत्याचार करना किसी भी धर्म को मान्य नहीं है। प्रेम, दया, सहिष्णुता, न्याय आदि गुणों के विकास के लिए सभी धार्मिक-सम्प्रदायों के लोग प्रयत्न करते हैं। यदि उन्हीं गुणों को भूल कर हम अपने धर्म की उन्नति करना चाहें तो वह धर्म की उन्नति कभी नहीं कही जा सकती। आश्चर्य की बात यही है कि धर्म-रक्षा में सचेष्ट हिन्दू और मुसलमान अपने उन सद्गुणों की रक्षा में सचेष्ट नहीं जान पड़ते जिनके कारण उनकी गणना पशुओं में न होकर मनुष्यों में होती है।

कुछ लोग राजनैतिक और साम्प्रदायिक आधार पर हिन्दू और मुसलमानों में समझौता कराना चाहते हैं। ऐसे समझौते में अपने अपने राजनैतिक, आर्थिक या साम्प्रदायिक स्वार्थों पर

दृष्टि रखने के कारण दोनों दल एक दूसरे से अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा करेंगे ही। और तब उनमें पारस्परिक सहानुभूति या प्रेम की वृद्धि नहीं हो सकती। जब तक इन दोनों जातियों में एक दूसरे के प्रति सहानुभूति नहीं है तब तक उनका विरोध भाव दूर होने का नहीं। सच्ची बात यह है कि स्वार्थों को प्रधानता देने से सहानुभूति हो नहीं सकती। उससे तो केवल यथेच्छाचार बढ़ता है। यथेच्छाचार और स्वतन्त्रता में भेद है। जहाँ तक एक व्यक्ति का सम्बन्ध अपने व्यक्तित्व से है वहाँ तक वह अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए बिलकुल स्वतन्त्र है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए यथेष्ट सुअवसर दिया जाना चाहिए। यही स्वतन्त्रता है। परन्तु जहाँ उसकी इच्छाओं का सङ्घर्ष अन्य लोगों की इच्छाओं से होता है, जहाँ उसका सम्बन्ध समाज से है, वहाँ वह अपनी ही इच्छा को प्रधानता नहीं दे सकता। वहाँ उसे समाज की इच्छा को मानना पड़ता है। जिसे हम समाज की मर्यादा कहते हैं वह व्यक्तियों के यथेच्छाचार को रोकने के लिए है। जिस प्रकार व्यक्तियों के यथेच्छाचार का नियन्त्रण समाज करता है उसी प्रकार समाज के यथेच्छाचार का भी नियन्त्रण होने से भिन्न समाजों में एकता स्थापित होती है, और उसी एकता की प्राप्ति के लिए सभी समाजों को चेष्टा करनी चाहिए। समाज हो या राष्ट्र हो, दोनों का आधार स्वार्थपरता नहीं, स्वार्थ-त्याग है। स्वार्थ त्याग किसी उच्च आदर्श के लिए किया जा सकता है। यह सच है कि किसी व्यक्ति के न्यायोचित अधिकारों पर समाज हस्तक्षेप नहीं कर सकता। इसी प्रकार किसी समाज के न्याययुक्त अधिकारों के विरुद्ध कोई दूसरा समाज आन्दोलन नहीं कर सकता। परन्तु ऐसे अधिकार तभी न्याय्य हैं जब उनसे दूसरे व्यक्तियों या

समाजों का अनिष्ट होने की सम्भावना नहीं है। यदि किसी एक व्यक्ति को ऐसे अधिकार दे दिये जायँ जिनसे दूसरे का अनिष्ट होता है तो वे अधिकार उचित नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार किसी धार्मिक सम्प्रदाय को यह अधिकार नहीं हो सकता कि वह अन्य धार्मिक सम्प्रदायों के धार्मिक कृत्यों को रोक दे। न्याय्य अधिकार वही है जो व्यक्ति या समाज के स्वार्थों का विचार न कर मनुष्य मात्र के लिए उपयुक्त होता है। यही कारण है कि एक व्यक्ति अथवा एक समाज के अधिकारों की अपेक्षा मनुष्यत्व के अधिकार कहीं ऊँचे होते हैं। यदि हम मनुष्यत्व के अधिकारों को छोड़ कर व्यक्तिगत अथवा साम्प्रदायिक अधिकारों के लिए ही यत्न करेंगे तो ऐसे अधिकारों से समाज का कल्याण नहीं हो सकता। यही नहीं, जब तक हम उस मनुष्यत्व का आदर करना नहीं सीखेंगे तब तक हम व्यक्ति या समाज के अधिकारों की भी रक्षा न कर सकेंगे। बाजा बजाना अथवा न बजाने देना, जलूस निकालना अथवा जलूस रोक देना, कुर्बानी करना अथवा कुर्बानी न करना आदि बातें विशेष अवसर, विशेष व्यक्ति और विशेष समाज से सम्बन्ध रखती हैं। परन्तु प्रेम, न्याय, दया आदि गुण मनुष्य मात्र के लिए हैं। यदि हम अन्याय पूर्वक विद्वेष अथवा क्रोध के भाव से युक्त होकर बाजा बजाने की अथवा बाजा बजाने को रोकने की चेष्टा करें और उसी अधिकार को अपना सर्वस्व मान लें तो क्या जाति में कभी मनुष्यत्व के उच्च भावों की वृद्धि हो सकती है? बाजा बजाने, जलूस निकालने या कुर्बानी करने आदि के अधिकार प्राप्त करने की अपेक्षा न्याय करने, प्रेम करने और दया करने के अधिकार अधिक वाञ्छनीय हैं। यदि हिन्दू-पत्र हिन्दुओं को मनुष्यत्व का आदर करना सिखावें और मुसलमान-पत्र मुसलमानों को न्याय

और प्रेम की शिक्षा दें तो देश का अधिक कल्याण हो।

हिन्दू-मुसलमानों के विरोध ने लोगों में कितना पशुत्व भाव फैला दिया है, यह समाचारों से प्रकट होता है। एक पत्र में प्रकाशित हुआ था कि एक डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट ने एक हिन्दू युवती को उड़ा ले जाने, उस पर बलात्कार करने और उसके जेवर छीन लेने के अपराध में एक मुसलमान को ११ वर्ष की सज़ा दी। एक दूसरे पत्र में पढ़ा कि एक रूपवती बालिका को कुछ पठान जबरदस्ती उठा कर ले गये और वह भ्रष्ट कर दी गई। बलात्कार और अनाचार के ऐसे समाचार प्रायः प्रतिदिन ही निकलते रहते हैं। अधिक उद्धरण की आवश्यकता नहीं। उपर्युक्त समाचारों में मुसलमान गुण्डों के अत्याचार वर्णित हैं। हिन्दू-समाज में हिन्दू-बालिकाओं पर अत्याचार करनेवाले हिन्दू गुण्डों के कार्य्य-कलाप भी हिन्दी-पत्रों में प्रकाशित होते रहते हैं। उनसे यह स्पष्ट है कि इन अत्याचारों को रोकने के लिए ऐसे उपायों का आश्रय लिया जाय जिससे हम लोग मनुष्यत्व का आदर करना सीखें। आत्म-रक्षा करने के लिए सङ्गठन की आवश्यकता अवश्य है। समाज की वृद्धि के लिए शुद्धि की भी आवश्यकता है। परन्तु हिन्दू-समाज इतने ही में अपने कर्त्तव्य की इतिश्री न समझ ले। कुछ मुसल्मानों या ईसाइयों को अपने सम्प्रदाय में मिला लेने से हिन्दू-समाज में उन आदर्शों का प्रचार नहीं हो सकता जिनका गर्व उसे है। जो स्वयं जर्ज्जर और अधःपतित हो रहा है, जहाँ अत्याचार और अन्याय के एक नहीं अनेक उदाहरण हैं, उसे पहले अपने को ही शुद्ध कर लेना चाहिए। शुद्धि की आवश्यकता हिन्दू-समाज के भीतर भी है।

हिन्दू-मुसलमान के विरोध का कारण केवल साम्प्रदायिक मतभेद नहीं है। साम्प्रदायिक मतभेद तो हिन्दू-जाति में भी है।

हिन्दू-समाज में एक नहीं, अनेक सम्प्रदाय हैं। उन सम्प्रदायों में घोर विरोध है। वे एक दूसरे पर आघात करते ही रहते हैं। वैष्णवों और शाक्तों में क्या कम विरोध है? जैनों और अन्य हिन्दुओं में क्या धार्मिक एकता है? हिन्दू-समाज में तो एक ओर निरीश्वरवादी हैं और दूसरी ओर मूर्तिपूजक, परन्तु भिन्न भिन्न सम्प्रदाय होने पर भी हिन्दू-समाज में एकता का सूत्र-बन्धन अवश्य है। उसी सूत्र-बन्धन के कारण इतने विभिन्न सम्प्रदाय हिन्दू जाति में सम्मिलित हो गये हैं। उस एकता का मूल कारण है जातीय संस्कार की एकता। जातीय संस्कार एक होने के कारण धार्मिक मतभेद जातीयता का बाधक नहीं हुआ। इन जातीय संस्कारों की रक्षा जातीय साहित्य के द्वारा होती है। हिन्दू-जाति में साम्प्रदायिक साहित्य अवश्य है, परन्तु ऐसा कोई भी हिन्दू नहीं है जो रामायण या महाभारत को श्रद्धा की दृष्टि से न देखता हो। संस्कृत-साहित्य की वृद्धि में सभी सम्प्रदाय के विद्वान् संलग्न रहे। काव्य, नाटक, दर्शन, विज्ञान साहित्य के ऐसे अङ्ग हैं जिनका सम्बन्ध किसी भी एक विशेष सम्प्रदाय से नहीं है। उन्हीं में हिन्दू जाति की जातीयता प्रकट हुई है। हिन्दू-समाज में जो चरित्र आदर्श के रूप में माने जाते हैं अथवा जो भाव उच्च समझे जाते हैं उनका प्रचार उसी साहित्य से हुआ है। यदि हिन्दू-मुसलमानों के जातीय संस्कार एक होते और उनका जातीय साहित्य एक होता तो साम्प्रदायिक मतभेद होने पर भी उनमें यह विरोध-भाव न रहता। परन्तु मुसलमानों का साहित्य भारतवर्ष में आने के पहले कुछ दूसरा ही था, उनके आदर्श भी कुछ दूसरे थे। मुसलमान भारतवर्ष में आकर भारतवर्षीय अवश्य हो गये हैं, भारतवर्ष उनकी जन्मभूमि अवश्य है परन्तु इस्लाम का गौरव स्थान भारतवर्ष नहीं है, अरब है। वहीं उनके प्राचीन

साहित्य का विकास हुआ, वहीं उनके आदर्शों की सृष्टि हुई। इसीलिए अरब से मुसलमानों का सम्बन्ध नहीं छूट सका। मुसलमान समझते हैं कि जिस दिन वे अरब पर से अपनी दृष्टि हटा लेंगे उसी दिन इस्लाम का समस्त गौरव नष्ट हो जायगा। यही कारण है कि अधिकांश मुसलमानों का भारतवर्ष के प्राचीन गौरव के प्रति वह अनुराग नहीं हो सकता जो एक हिन्दू को है। भारत की प्राचीन सभ्यता और साहित्य पर अनुराग न होने के कारण वे हिन्दू-जाति के जातीय संस्कारों को भी आदर की दृष्टि से नहीं देख सकते। जब तक किसी जाति में ज्ञान की ओर स्पृहा रहती है, जब तक वह अपनी उन्नति के लिए सचेष्ट रहती है, तब तक वह अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए अन्य देशों के साहित्य और कला से उच्च भाव बराबर ग्रहण करती रहती है। भारतवर्ष में आने के पहले जब मुसलमानों की गौरव श्री बगदाद में विकसित हो रही थी उस समय हिन्दू-जाति के साहित्य और कला का वहाँ यथेष्ट आदर था। जब भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य हुआ तब भी हिन्दू-साहित्य से कितने ही ग्रन्थ-रत्नों का अनुवाद कितने ही श्रेष्ठ मुसलमान विद्वानों ने किया। यदि साहित्य में उसी प्रकार आदान प्रदान का क्रम बना रहता, यदि श्रेष्ठ विद्वान् साम्प्रदायिक मतभेद को छोड़कर उच्च भावों का प्रचार करते रहते तो आज मुसलमानों में हिन्दू-साहित्य के प्रति विशेष अनुराग हो जाता और भारत की प्राचीन सभ्यता के लिए उन्हें भी गर्व होता। और तब हिन्दू-मुसलमानों की यह समस्या न रह जाती।

मुसलमानों में इस भाव की वृद्धि भी हो रही है। कितने ही मुसलमान भारतवर्ष को उसी प्रेम से देखते हैं जैसा कोई मातृ भक्त अपनी माता को देखता है। महाकवि इकबाल की स्वदेश

भावना जिन पद्यों में व्यक्त हुई है उन पद्यों को सभी लोगों ने
अपना लिया है। तो भी यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि
प्राचीन भारतवर्ष के प्रति अभी उनकी विशेष श्रद्धा व्यक्त नहीं
हुई है। यह सच है कि कितने ही मुसल्मान कवियों और
साधकों ने हिन्दू भावों को उज्ज्वल रूप दिया है, परन्तु मुसलमान
जाति में अभी इन भावों का यथेष्ट प्रसार नहीं हुआ। इसमें सन्देह
नहीं कि यदि कभी हिन्दू और मुसल्मानों का सच्चा सम्मिलन
होगा तो वह उस साहित्य की भित्ति पर स्थापित होगा जिसमें
मानव-समाज के उच्चतम आदर्शों की प्रतिष्ठा है। उसी दिन
हिन्दी और उर्दू का विरोध जाता रहेगा, देवनागरी और फारसी
लिपि का झगड़ा नहीं रहेगा और हिन्दू और मुसल्मानों का वम
स्य भी मिट जावेगा। तभी भारतवर्ष में राष्ट्रीयता का अभ्युदय
गा। जो लोग भारतवर्ष में राष्ट्रीयता स्थापित करना चाहते
हैं ऐसे ही राष्ट्रीय साहित्य की सृष्टि में संलग्न होना चाहिए।

हिन्दू धर्म के विरुद्ध यह बात कही जाती है कि वह प्रचारक
नहीं है। जो हिन्दू के घर में जन्म लेते हैं वही हिन्दू धर्म
स्थान पा सकते हैं। हिन्दू धर्म पर अन्य किसी का अधिकार
है। कुछ लोगों की समझ में यह हिन्दू धर्म की सङ्कीर्णता
बात सच होने पर भी यह आक्षेप मिथ्या है। इसमें सन्देह
कि जिस प्रकार बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म और मुसल्मान धर्म
क धर्म है उसी प्रकार हिन्दू धर्म प्रचारक धर्म नहीं है।
, यह प्रचारक धर्म है क्या? जो धर्म जाति और वर्ण की
कर सभी मनुष्यों को ग्रहण करे वही धर्म प्रचारक है।
का मतलब है कि कुछ विशेष विश्वासों को जन-समूह
लित करना। जितने प्रचारक धर्म हैं वे सब कुछ मतों
श्वासों पर स्थापित हैं। ये मत और विश्वास सार्वजनिक

नहीं हैं अर्थात् सभी इनको सत्य नहीं मानते। जो इन मतों को नहीं मान सकते वे इन धर्मों के वाहर रहते हैं। इन धर्मों की व्यापकता मतैक्य पर निर्भर है। परन्तु, हिन्दू-धर्म में यह बात नहीं है। उसका प्राण मत नहीं, आचार है, विश्वास, नहीं अनुष्ठान है। यदि ईसाई धर्म और इस्लाम धर्म को हम प्रचार धर्म कहें तो हिन्दू-धर्म को हम आचार धर्म कहेंगे। सभी प्रचारक धर्म आचार व्यवहार के सम्बन्ध में उदार होते हैं। परन्तु मत और विश्वास के विषय में सङ्कीर्ण होते हैं। हिन्दू-धर्म मत और विश्वास के सम्बन्ध में उदार होता है परन्तु आचार में सङ्कीर्ण होता है। यही इन दोनों में भेद है। विचारणीय यह है कि मत की शृङ्खला से मन को बाँधना अच्छा है या आचार के बन्धन में अपना वाह्य आचरण और कर्माकर्म आवद्ध करना।

इसमें सन्देह नहीं कि पराधीनता से, वन्धन से, मनुष्यत्व के विकास में वाधा होती है। परन्तु विना किसी प्रकार के वन्धन के समाज की स्थिति सम्भव नहीं।

स्वाधीनता और वन्धन, इन दोनों में सामञ्जस्य स्थापित किये विना मनुष्यत्व की रक्षा असाध्य है। हिन्दू के वर्णाश्रम में यही सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की गई है। समाज में गृहस्थाश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को समाज के नियम के अनुसार चलना होगा। इन नियमों से जब चित्त की शुद्धि हो जाय, चरित्र निर्मल और प्रवृत्तियाँ संयत हो जायँ तब वानप्रस्थ और अन्त में संन्यास ग्रहण कर मनुष्य सभी नियमों का अतिक्रमण कर सकता है। साधना की अवस्था में पराधीनता और सिद्धावस्था में स्वाधीनता, यही हिन्दू-समाज में आचार की व्यवस्था है। इसी से उसने द्राविड़ देश को अपने अङ्गीभूत किया और हूण, शक प्रभृति अहिन्दू-जातियों को हिन्दू-जाति में स्थान

दिया। आचार के बन्धन में ही हिन्दू जाति ने अपने को बाँधा है। और इसी बन्धन के भीतर लाकर वह दूसरों को आत्मसात् कर लेती है। वर्णाश्रम को मानकर, सामाजिक यम नियमों को स्वीकार कर सभी को यथेष्ट चिन्ता और विचार करने का अधिकार है। हिन्दू जाति में कोई शैव है, कोई वैष्णव है और कोई शाक्त है। कोई नास्तिक है, तो कोई आस्तिक। तत्त्वालोचना में हिन्दू-दर्शन-शास्त्रों में तीव्र मत भेद है। निरीश्वर सांख्य और सेश्वर योग तथा न्याय, वशेषिक या पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा सभी अपने अपने सिद्धान्तों का मण्डन और दूसरों के सिद्धान्तों का खण्डन भी करते हैं। तो भी ये सभी हिन्दू धर्म में सम्मिलित हैं। कबीर पन्थी, दादू पन्थी, नानक-पन्थी आदि कितने ही नये पन्थ भी प्रचलित हैं। परन्तु कोई भी हिन्दू-समाज से बहिष्कृत नहीं हुआ। विचार की यह स्वाधीनता, साधना के ये ऋजु कुटिल नाना पथ हिन्दू धर्म में ही हैं। इन्हीं के कारण हिन्दूधर्म में वह उदार और सार्वजनीन भाव आ गया है जो अन्यत्र कहीं नहीं है।

प्रचारक धर्मों में यह उदारता सम्भव नहीं है। कोई भी प्रचारक धर्म यह स्वीकार नहीं करेगा कि उसके विरोधी मतों में भी सत्य है। उनका कथन है कि धर्म की सार वस्तु और मुक्ति का एक मात्र पथ केवल उन्हीं को लक्ष्य है। जो ईसाई नहीं है उन्हें ईसाई के कथनानुसार नरक की यातना सहनी पड़ेगी। जो मुसलमान नहीं हैं उन्हें जहन्नुम जाना पड़ेगा। इसीलिए वे संसार का कल्याण करने के लिए अपने सङ्कीर्ण मत का प्रचार करते हैं। हिन्दू धर्म ने कभी अपने को इस दृष्टि से नहीं देखा। उसने विश्वेश्वर का विश्वरूप ही देखा। उसने कभी अपने को सत्य का एक मात्र अध्यक्ष नहीं समझा।

हिन्दू ईसाई-धर्म के बाह्य क्रिया कलाप की अवहेलना कर ईसा को भगवान् के रूप में देख सकता है। हिन्दू के लिए सम्भव नहीं है तो यही कि वह ईसा के लिए कृष्ण को अथवा मुहम्मद के लिए बुद्धदेव को नहीं छोड़ सकता। इसी को चाहे तो कोई सङ्कीर्णता कह सकता है। किसी भी धर्म की निन्दा करना वह पाप समझता है। यही हिन्दू-धर्म का महत्त्व है।

भारतवर्ष में राष्ट्रीय भावना के मूल में है स्वराज्य की इच्छा। यह स्वराज्य है क्या? शब्द के अर्थ से यही प्रकट होता है कि जो स्वयं अपना राजा है स्वराज्य उसी के हस्तगत है। जो स्वयं अपना राजा होगा उसे निर्भय होना ही चाहिए। वह न्यायवान् होगा और मनुष्य मात्र पर प्रेम रक्खेगा। निर्भीक होने से ही उसे जब कोई यह कहेगा कि तुम मेरी आज्ञा मानो, तब वह यही उत्तर देगा कि जो आज्ञा मेरे विवेक के विरुद्ध है उसे मैं कभी नहीं मान सकता। जो कानून हमारे प्रतिनिधियों से नहीं बनाये गये हैं उन्हें मानने के लिए हम बाध्य नहीं हैं। इसके लिए उसे कितना ही दण्ड क्यों न दिया जाय, वह अपने निश्चय से नहीं टलेगा। जिसमें ऐसी निर्भीकता है उसने अपने लिए स्वराज्य अवश्य प्राप्त कर लिया। परन्तु यह निर्भीकता उसे प्राप्त नहीं हो सकती जो स्वार्थ के वशीभूत है, जो अपनी प्रवृत्तियों का दास है। जो अमरत्व पर विश्वास करता है उसीको यह अक्षय-पद प्राप्त होता है। ऐसा व्यक्ति न्याय निष्ठ भी होगा। जो दूसरों के न्यायोचित अधिकारों में हस्तक्षेप करेगा ऐसे अन्यायी के हृदय में नैतिक साहस का भी अभाव रहता है। जो न्याय निष्ठ है वह मनुष्य मात्र से प्रेम करेगा। न्याय मनुष्य-प्रेम पर ही प्रतिष्ठित है। अतएव जो स्वराज की कामना करते हैं वे न्याय और प्रेम का तिरस्कार नहीं कर सकते। जिस जाति में ऐसे स्वराज्य-प्रेमी

व्यक्ति होंगे वह पराधीन नहीं हो सकती। सच तो यह है कि ऐसे ही व्यक्तिगत चरित्र पर जातीय चरित्र का निर्माण होता है। जातीय चरित्र में भी व्यक्तिगत चरित्र की तरह निर्भीकता, न्याय और मनुष्य प्रेम होना चाहिए। तभी उसकी सार्थकता है।

भारतीय राष्ट्रीयता की स्थापना में सब से बड़ी बाधा है भिन्न भिन्न समाजों का धार्मिक विद्वेष। संसार के सभी देशों में भिन्न भिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में ईर्ष्या द्वेष का अस्तित्व देखकर कुछ लोग धर्म का ही लोप कर देना चाहते हैं। वे धर्म का स्थान मनुष्य की बुद्धि को (Reason) दे डालना चाहते हैं। फ्रांस के इतिहास में यह स्पष्ट है कि धर्म का उच्छेद करने की चेष्टा कितनी भयङ्कर होती है। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने धर्म का उच्छेद कर बुद्धि की प्रतिष्ठा की। उसका फल हुआ भीषण हिंसा। बात यह है कि धर्म का विनाश कभी नहीं हो सकता। परन्तु प्रत्येक धर्म में जो कुछ नित्य और सनातन है उस पर ध्यान न देकर जब लोग बाह्य अनुष्ठानों को ही महत्त्व देने लगते हैं तभी साम्प्रदायिक विरोध की सृष्टि होती है। कबीर ने हिन्दू-मुसलमान की एकता के लिए धर्म के इसी नित्य तत्त्व पर जोर दिया था। उसी को ग्रहण करने से विरोध दूर हो सकता है।

सभी मनुष्य शक्ति की कामना करते हैं। वे जानते हैं कि जिनमें शक्ति नहीं है, जो दुर्बल हैं, वे अपनी आत्मरक्षा नहीं कर सकते। उन्हें सदैव दूसरों की दया पर आश्रित रहना पड़ता है। परन्तु शक्ति केवल शारीरिक नहीं होती, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाँ भी होती हैं। अतएव इनको भी प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए। शरीर के साथ मन और आत्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिनमें मानसिक और आध्यात्मिक बल नहीं है उनका शारीरिक बल भी व्यर्थ है। कितने ही लोग ऐसे होते

है कि उनमें यथेष्ट शारीरिक बल होने पर भी मानसिक शक्ति का अभाव होने से भीरुता आ जाती है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि जिनमें शारीरिक शक्ति का अभाव है वे अपनी मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों की यथेष्ट उन्नति भी नहीं कर सकते। रुग्ण और निर्बल जाति में मानसिक शक्ति का पूर्ण विकास नहीं होता। यह सच है कि दो चार ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो स्वयं शारीरिक बल से हीन होते हैं परन्तु उनमें मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का यथेष्ट विकास हो जाता है। परन्तु यह बात सिर्फ व्यक्तियों तक ही परिमित है। जातियों के विषय में यह नहीं कही जा सकती। जब हिन्दू-जाति ने अपनी मानसिक शक्तियों को ख़ूब उन्नत कर लिया था तब वह इतनी पराक्रम हीन भी नहीं थी। मुसलमानों की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विकास भी साथ ही साथ हुआ। इसी प्रकार इन शक्तियों का ह्रास भी साथ ही साथ हुआ है। यह तो निश्चित है कि जब किसी जाति की स्वाधीनता का लोप होता है तब उसकी शारीरिक शक्ति का ही अधोगति नहीं होती, उसका मानसिक और आध्यात्मिक पतन भी होता है। अतएव जो जाति स्वाधीन होना चाहती है उसे अपनी सभी शक्तियों को उन्नत करना ही पड़ेगा।

जिस प्रकार शक्ति के ह्रास से स्वाधीनता का लोप होता है उसी प्रकार पराधीनता में शक्ति का लोप हो जाता है। हिन्दू-जाति ही इसका एक उदाहरण है। सैकड़ों वर्षों तक वह स्वाधीन रही है। उसने भारत में सुशासन की व्यवस्था की थी, शत्रुओं को पराजित किया था, विद्रोह का दमन किया था और देश में शान्ति की स्थापना की थी। परन्तु कुछ ही समय तक पराधीन रहने के कारण उसकी कर्तृत्व शक्ति का लोप सा हो

गया है। वह अपनी आत्म-रक्षा तक करने में अपने को अयोग
समझती है। भारतीयों की स्वराज्य प्राप्ति की चेष्टा में सबसे ब
भय का कारण हिन्दू मुसलमान का पारस्परिक विरोध हो गया
है। कितने ही लोगों की यह धारणा हो गई है कि अंगरेजों की
छत्र-छाया में ही यह विरोधाग्नि शान्त रह सकती है। इस
धारणा के मूल में आत्म-शक्ति के प्रति अविश्वास है। इसी से
हिन्दू मुसलमानों को सदैव सन्देह की दृष्टि से देखते हैं और
मुसलमान हिन्दुओं से आशङ्कित रहते हैं। मौलाना मुहम्मद
अली ने बिल्कुल ठीक कहा है कि अब न तो मुसलमान हिन्दुओं
का अन्त कर सकते हैं और न हिन्दू मुसलमानों का। मुसलमानों
को अपने मन से यह सन्देह दूर कर देना चाहिए कि हिन्दू केवल
अपने लिए स्वराज्य चाहते हैं। हिन्दुओं के साथ व्यवहार करते
समय मुसलमान बहुत अधिक कमजोर नजर नहीं आ सकते।
हमें स्मरण रखना चाहिए कि कमजोरों को ही दूसरे के सामने
कमजोर समझे जाने का डर बना रहता है। सच तो यह है कि
आत्म-रक्षा में अपने को असमर्थ समझने ही के कारण लोगों में
ाशङ्का होती है। पराधीनता कभी किसी जाति को बल नहीं
ती। यही नहीं, वह जाति की आशा और आत्मरक्षा तक को
त्यु कर देती है।

संसार की आधिभौतिक शक्तियाँ सूर्य के प्रचण्ड तेज के
ान बड़ी शक्ति-शाली हैं। यद्यपि देखने में मनुष्य के हृदय व
र इन शक्तियों की अपेक्षा धार्मिक, नैतिक, या राजनैतिक
ारों का अधिक आधिपत्य रहता है तथापि वास्तव में यह
िपत्य देखने भर का है, क्योंकि भौतिक शक्तियों का प्रभाव
के ऊपर अत्यधिक होता है। साथ ही साथ इन शक्तियों
ार्मिकता या आध्यात्मिकता का प्रकृत विरोधी ठहराना भय

क्रूर भूल है। शरीर के लिए भोजन चाहिए, कपड़े चाहिए, मकान चाहिए। अधिकाश मनुष्यों के लिए शरीर की यह आवश्यकता सब से बड़ी आवश्यकता है। इस आवश्यकता की पूर्ति के सामने वे सभ्य विचारों को ताक पर रख सकते हैं। हमारे आर्थिक सङ्गठनों का एकमात्र आधार और प्रवर्तक शरीर की उपर्युक्त आवश्यकता है। जहाँ धर्म और शिक्षा जन-साधारण के आर्थिक प्रश्नों को व्यावहारिक रूप से हल करने में असमर्थ सिद्ध होते हैं, वहाँ इनके विरुद्ध हमारे आर्थिक सङ्गठनों की विजय होती है क्योंकि ये हमारी सर्वोपरि आवश्यकता की पूर्ति में साधक होते हैं। मनुष्य का शरीर सब से अधिक स्वार्थी है, उसकी इच्छाओं की पूर्ति के लिए मनुष्य को बाध्य होना पड़ता है। उसका प्राथमिक और स्वाभाविक स्वरूप आर्थिक स्वरूप है, जिसमें उसका व्यक्तित्व बहुत ही संकुचित रहता है। उसमें मनुष्य केवल अपने और अपने कुटुम्ब के लिए खड़ा होता है। जिस समाज की सृष्टि केवल इसी प्रारम्भिक आधार पर अवलम्बित होती है उसमें रात दिन छोटे-मोटे अनेक झगड़े होते रहते हैं और उसमें उन उच्च आध्यात्मिक विचारों के सर्वथा विपरीत आचरण दृष्टिगोचर होता है जिनका उद्देश यह होता है कि मनुष्य का व्यक्तिगत स्वार्थ बराबर कम होता जाय और उसका मन समाज के कल्याण में निरत रहे और उसी से आनन्द प्राप्त करे। मनुष्य जब अपने व्यवहार में इन आदर्शों की ओर एक पग भी नहीं चल सकता तब निराश होकर यह समझ बैठता है कि ऐसे आदर्श केवल स्वर्ग में ही सफलीभूत हो सकते हैं, पृथ्वी पर उनका सम्पादन असम्भव है, वे केवल कहने की बातें हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि वर्तमान स्वतन्त्रता का आन्दोलन तभी सफल हो सकता है जब वह मनुष्यों के मस्तिष्क और हृदय के

ऊपर आध्यात्मिक आदर्शों का प्रभुत्व स्थिर करने में सब से अधिक सहायक हो, क्योंकि राष्ट्रीयता का उद्देश मनुष्य के बृहत् जीवन में जहां स्वार्थ सबसे अधिक प्रबल होता है उस स्वार्थमय व्यक्तित्व की सङ्कीर्णता मिटाना है। शायद पहले पहल किसी किसी को इस प्रकार राजनैतिक आन्दोलनों से आध्यात्मिक आदर्शों का सम्बन्ध जोड़ना बिलकुल अनुपयुक्त और हास्यप्रद जान पड़े, किन्तु थोड़े से विचार से इसकी यथार्थता समझ में आ सकती है। संसार के सभी बड़े बड़े धर्म अगोचर स्वर्ग से पृथ्वीतल पर अवतीर्ण हुए हैं, अनन्त की एक किरण मनुष्य के रूप में प्रकट होकर उसको यहाँ पर लाई है। यदि हम चाहते हैं कि हमारे आध्यात्मिक और उज्ज्वल विचार केवल मस्तिष्क अथवा मुख में ही न रह सकें, तो हमको उन पर भौतिक आवरण चढ़ा देना चाहिए। राष्ट्रीयता का विचार एक सभ्य और शिक्षित विचार है। किन्तु जब मनुष्य यह देखता है कि उसका पड़ोसी या उसका मालिक राष्ट्रीय आदर्शों में उससे पूर्ण समानता रखते हुए भी व्यवहार में अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर उसका खून चूस रहा है, उसको अनुचित रीति से भौतिक सुविधाओं से वञ्चित रखता है तब राष्ट्रीयता के मनोमोहक विचारों पर उसका विश्वास एकदम उठ जाता है। उसके लिए राष्ट्रीयता कोरी कल्पना और स्वार्थियों का ढकोसला मात्र रह जाती है। वर्तमान सामाजिक आन्दोलन का सब से बड़ा उद्देश समाज के आर्थिक स्वार्थों का एकीकरण होना चाहिए, अर्थात् समाज की प्रत्येक चेष्टा में, व्यक्तिगत भाव न्यून से न्यून रहे और सारे कार्य कलाप सामाजिक या राष्ट्रीय हो जायँ। इस प्रकार के सामाजिक और राष्ट्रीय उद्योगों में ही समाज के अधिकांश सदस्यों की व्यक्तिगत भलाई है, इस

विचार की सचाई और व्यावहारिकता हिन्दू जाति की प्राचीन वर्ण व्यवस्था द्वारा भली भाँति सिद्ध हो जाती थी। धीरे धीरे नागरिक का हृदय अपने स्वार्थ को गौण समझना सीखने लगता था और राष्ट्र या समाज की भलाई में ही अपनी भलाई अनुभव करने लगता था। यही कारण है कि वर्ण-व्यवस्था का सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन के साथ होने के कारण, अन्त में उसी का प्रभाव भारतीय राष्ट्र के चरित्र निर्माण में सब से अधिक और चिरस्थायी हुआ। इसका सम्बन्ध मनुष्य की उन क्रियाओं से है, जिन्हें वह चाहे जिसके शासन में रहे, चाहे जिस धर्म का अनुयायी हो, चाहे जिस सभ्यता की विचार धारा में प्रवाहित हो, कदापि नहीं छोड़ सकता। इस आन्दोलन का सम्बन्ध मनुष्य की सब से बड़ी आवश्यकता और उसके स्थायी उद्योगों से है, अतएव उसके सङ्गठन के सिद्धान्तों का प्रभाव राष्ट्रीय चरित्र गठन पर सब से अधिक होगा, इसमें सन्देह ही क्या है? वर्ण-व्यवस्था से मनुष्य को अर्थ-शास्त्र की व्यावहारिक शिक्षा मिलती है, उसको जनता की सेवा करने की योग्यता विना प्रयास प्राप्त हो जाती है, उसके सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्य में सच्चे नागरिक भावों का उदय होता है। दैनिक जीवन में सहिष्णुता और सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार काम करना हमारे राष्ट्रीय जीवन का सब से बड़ा गुण होना चाहिए।

४—जाति-समस्या



ससार के इतिहास म ऐसी कोई भी जाति नहीं है जिसने अपनी शक्ति को सदैव अक्षुण्ण रक्खा हो। उत्थान के बाद सभी का पतन हुआ है। कभी किसी जाति ने उन्नति की है तो कभी किसी जाति ने अवनति। परन्तु उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच कर अन्त में सभी का अध पतन हुआ है। प्राचीन मिस्र का गौरव अब उसके ध्वसावशेषों में है। कभी भारत की ऊर्जिता वस्था थी। अब भारतीय आर्य जाति की गौरव-कथा उसके प्राचीन साहित्य में ही विद्यमान है। प्राचीन ग्रीस की विश्व विजयिनी शक्ति नष्ट हो गई है। रोम का साम्राज्य अतीत-काल की कथा-मात्र है। मुसल्मानों की प्रचण्ड शक्ति के आगे ससार नत हो चुका था। अब उसे ही अपने अस्तित्व की रक्षा की चिन्ता है। आज-कल योरपीय जातियों का प्राधान्य है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उनका अभ्युदय चिरस्थायी है। कितने ही पाश्चात्य विद्वानों ने आधुनिक योरपीय सभ्यता की समीक्षा कर उसके भविष्य के विषय में अपनी आशङ्का प्रकट की है। विचारणीय यह है कि किसी जाति के उत्थान और पतन के कारण क्या हैं।

प्राचीन काल में कितनी ऐसी जातियाँ थीं जिनका अब अस्तित्व तक नहीं है। उनके उत्थान-पतन के इतिहास में हम कार्य-कारण का कुछ विलक्षण ही सम्बन्ध पाते हैं। हम यह देखते हैं कि कार्य का उद्देश कुछ था और उसका परिणाम कुछ दूसरा ही हुआ। धर्म की उन्नति के लिए तो आन्दोलन हुआ, पर उसका फल हुआ एक प्रबल जाति की सृष्टि। जाति उठी तो दूसरों को सत्पथ दिखाने के लिए, किन्तु स्वयं विपथगामिनी हो गई। वह अपना उद्देश भूल गई और स्वयं अपने नाश का कारण हो गई। जाति की उन्नतावस्था में उसके पराभव के कारण उत्पन्न हुए और जाति की दुरवस्था में उसकी उन्नति के साधन प्रस्तुत हुए। तब क्या यह कहा जा सकता है कि मनुष्य-जाति का उत्थान पतन काल-चक्र का परिणाम मात्र है? कुछ लोग इसी बात को मानते हैं।

उनका कथन है कि जिस प्रकार मनुष्य-जीवन का विकास और ह्रास होता है उसी प्रकार जाति की उन्नति और अवनति होती है। मनुष्य बाल्यावस्था से युवावस्था और युवावस्था से वृद्धावस्था को प्राप्त होकर अन्त में मृत्यु के चक्र में पड़ता ही है। उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। इसी प्रकार जाति की अवस्था भी परिवर्तित होती रहती है और अन्त में उसका क्षय होता ही है। परन्तु बात यह है कि जाति में वृद्धावस्था कभी आनी ही न चाहिए, क्योंकि जाति में युवक सदैव वृद्धों का स्थान लेते रहते हैं। एक जाता है तो उसके स्थान में दूसरा आता है। इस प्रकार जाति के जीवन का अन्त ही नहीं हो सकता। यदि किसी जाति का क्षय हुआ है तो हमें यही समझना चाहिए कि पूर्वजों की अपेक्षा उनकी सन्तानों की शक्ति क्षीण होती गई है अथवा अन्य प्रबल जातियों के सङ्घर्षण से वह जाति अप

रक्षा नहीं कर सकी है। जाति की यही अन्त स्थिति और वाह्य स्थिति है जिनमें परिवर्तन होने से उसकी उन्नति या अवनति होती है। अब हम इनमें से एक एक की आलोचना करेंगे। पहले हम वाह्य स्थिति को लेते हैं।

वाह्य परिस्थितियों में सब से पहले देश का प्रभाव पड़ता है। देश की प्राकृतिक स्थिति और जल वायु के कारण जाति में कुछ ऐसी विशेषता आ जाती है जो अन्य देशों के रहनेवाली जातियों में नहीं पाई जाती। जो लोग समभूमि में रहते हैं उनकी अपेक्षा पार्वत्य-देश के निवासी अधिक कष्ट-सहिष्णु होंगे। इसी प्रकार जो लोग सजला-सफला भूमि में कम परिश्रम से अपने जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त कर लेते हैं उनकी शारीरिक शक्ति उन जातियों की अपेक्षा कम होगी जो मरुभूमि में रह कर कठिन परिश्रम से अपने जीवन का निर्वाह कर लेते हैं। इसके सिवा सजला सफला भूमि में भिन्न भिन्न जातियों का सङ्घर्षण अवश्य होता रहेगा, क्योंकि सभी मनुष्य वसे ही देश पाने की कामना करेंगे जहाँ अनायास उनका जीवन निर्वाह हो जाय। अतएव समभूमि और शस्य-सम्पन्न देश के निवासियों के लिए जाति-सम्मिश्रण के कारण जीवन में अधिक जटिलता रहेगी। इस जटिलता का प्रभाव जाति के अशन-वसन, आमोद प्रमोद तथा जीवन के साधारण कृत्यों पर भी पड़ता है। जब जीवन में सरलता रहती है तब मोटा पहनना और मोटा खाना यथेष्ट रहता है। परन्तु यह जीवन की जटिलता में सम्भव नहीं रहता। आमोद-प्रमोद के कितने ही उपकरण उस समाज के लिए आवश्यक हो जाते हैं जहाँ सङ्घर्षण अधिक है। मानसिक शक्ति पर भी इसका प्रभाव देखा जाता है। जो जाति अपने जीवन के लिए अपनी शारीरिक शक्ति पर अवलम्बित है उसे

जड़ पदार्थ ही अधिक सारवान् प्रतीत होंगे। अतएव जो सभ्यता वह निर्मित करेगी वह जड़ानुगत होगी। जिन कलाओं से जीवन में सुख-स्वच्छन्दता, सुविधा और विलास की वृद्धि होती है उन्हीं की पुष्टि उसमें होगी। इन्द्रिय की परितृप्ति तथा जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की योजना में ही उसकी सभ्यता के आदर्श निर्मित होंगे। इसके विपरीत जो जाति अनायास ही अपने जीवन का निर्वाह कर लेती है वह शारीरिक सुखों की अपेक्षा मानसिक सुखों की प्राप्ति के लिए अधिक चेष्टा करेगी। अतएव उसकी सभ्यता आध्यात्मिक होगी। इसी आध्यात्मिक सभ्यता के कारण कभी कभी जाति संसार की इतनी उपेक्षा करने लगती है कि वह अकर्मण्य हो जाती है। इसी अकर्मण्यता का फल पतन है। जब भिन्न भिन्न जातियों का सङ्घर्षण होता है तब एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। इससे वे एक दूसरे से कितनी ही बातें ग्रहण कर लेती हैं। इनसे भी जाति की गति उन्नति अथवा अवनति की ओर अग्रसर होती है।

अब हम जाति की अन्तःस्थिति पर विचार करते हैं। जातियों के पतन का कारण बतलाते हुए विद्वानों ने विलासिता वृद्धि द्वारा जातीय चरित्र-हानि, अज्ञान की वृद्धि, वैराग्य और अकर्मण्यता आदि कारणों का उल्लेख किया है। ये सब कुशिक्षा के प्रभाव कहे जा सकते हैं। एक और कारण है जिसे हम प्राकृतिक निर्वाचन का अभाव कहेंगे। यही जाति की अन्तःस्थित व्याधि का द्योतक है। इसकी व्याख्या एक विद्वान् ने इस प्रकार की है।

जातीय उन्नति या अवनति का मतलब है जाति के व्यक्ति वर्ग की उन्नति या अवनति। व्यक्ति-वर्ग का अच्छा या बुरा होना दो बातों पर निर्भर है। पहली बात यह है कि उसके जन्म सिद्ध

सस्कार कैसे हैं। दूसरी बात यह है कि उसे शिक्षा कैसे मिली है। जब कोई जन्म लेकर आता है तब वह अपने शरीर के साथ कुछ सस्कार भी लेता आता है। यह सभी जानते हैं कि भिन्न भिन्न बालकों में शक्ति की समानता नहीं रहती। किसी में कोई शक्ति अधिक है तो किसी में कोई शक्ति। शक्ति की तरह स्वभाव म भी भिन्नता रहती है। कोई स्वभाव से दयालु होता है तो कोई स्वभाव से निष्ठुर। किसी की बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो किसी की मन्द। कहा जाता है कि गदहा ठोंक पीट कर ोडा नहीं बनाया जा सकता। इस कथन में सत्यता है। तो भी ह मानना पड़ेगा कि शिक्षा का भी बड़ा प्रभाव होता है। यहाँ क्षा से मतलब उन बातों से है जिन्हें मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती चर-वर्ग से सीखता है। बालकों को अपने सहवासियों से शिक्षा मिलती है वह उसके चरित्र निर्माण में बडा काम ी है। जो बालक स्वभाव से दयालु होता है वह भी निर्दयों लङ्गति म पड़कर क्रूर हो जाता है। इसी प्रकार कितनी बुद्धि का बालक क्यों न हो, यदि उसे शिक्षा बिलकुल जाय तो वह मूर्ख हो जायगा। जो बालक बिलास की पले हैं वे विलास प्रिय अवश्य होंगे। इसी तरह जिन्हें का अनुभव करना पडा है वे परिश्रमी और कष्ट-सहिष्णु तलब यह है कि चरित्र निर्माण के लिए जिस प्रकार क वृत्ति आवश्यक है उसी प्रकार उन स्वाभाविक के विकास के लिए शिक्षा की भी आवश्यकता है। एक से दूसरे का विकास असम्भव है। गणित के एक उदा ह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। मान लीजिए स्वाभा 'क' है, शिक्षा 'ख' और मनुष्य या व्यक्तित्व 'ग'। गा क×ख=ग। अब चाहे क कितना

न हो, यदि ख अधिक है तो उसका गुणन-फल ग कम नहीं होगा। परन्तु यदि क (०) शून्य है तो ख कितना ही अधिक क्यों न हो उसका गुणन-फल शून्य ही रहेगा। इसी प्रकार यदि ख शून्य होगा तो क के बड़ा रहने पर भी गुणन फल शून्य ही होगा। मतलब यह कि यदि किसी जाति की हीनावस्था है तो उसका कारण जानने के लिए हम देखेंगे कि उस जाति के व्यक्तिवर्ग की स्वाभाविक वृत्तियों का ह्रास हुआ है अथवा उनके विकास के लिए उचित अवस्था का अभाव हुआ है।

मनुष्यों की कितनी ही मानसिक वृत्तियाँ—जैसे चिन्ता शक्ति, दया, साहस या स्वार्थ परता, निष्ठुरता, विषय लिप्सा वंश परम्परा से चली आती हैं। शारीरिक आकार तथा वर्ण की तरह हम उन्हें भी अपने माता पिता से पाते हैं। कहना नहीं होगा कि योग्य माता पिता की सन्तान में योग्यता प्रदर्शित होगी। प्राकृतिक निर्वाचन का फल यह है कि निम्ना वस्था से भी जाति उन्नतावस्था को पहुँच जाती है। इसी प्राकृ तिक निर्वाचन के कारण निर्बल आपसे आप नष्ट हो जाते हैं और सबल ही जीवित रहते हैं और उन्हीं से वंश की रक्षा होती है। इसी से समाज में योग्य व्यक्तियों की सख्या बढ़ती जाती है और पारिपार्श्विक अवस्था से संग्राम करते करते समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जाता है। सभ्यावस्था में प्राकृतिक निर्वाचन का ह्रास होने लगता है। सभ्य समाज में निर्बल और रुग्ण व्यक्तियों की भी रक्षा होती है। निर्बुद्धियों को भी आश्रय मिलता है। धन, मान, आदि कृत्रिम भेदों की सृष्टि होने से प्राकृतिक निर्वाचन का द्वार ही बन्द हो जाता है। रुग्ण, निर्बोध, पापात्मा व्यक्ति भी धनी या उच्चपदस्थ होने के कारण अपने वंश की वृद्धि करते हैं। अयोग्य व्यक्तियों की वंश-वृद्धि से सभ्य-समाज

में अयोग्य अयोग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है। फल यह होता है कि प्राकृतिक निर्वाचन के अभाव से जाति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास होता जाता है। इनसे न तो उन्नति के अनुकूल स्वाभाविक वृत्ति का आविर्भाव होता है और न उनके विकास के लिए उचित अवस्था ही हो सकती है। अतएव जाति का पतन अनिवार्य है। जाति में वर्णसङ्करता का दोष आ जाने से यह पतन शीघ्र हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जाति के उत्थान और पतन में सबसे बड़ा कारण भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक सङ्घर्षण है। जब दो जातियों का पारस्परिक सङ्घर्षण होता है तब उसका फल यही होता है कि जो जाति सबल होती है वह दूसरी निर्बल जाति को दबा देती है। यदि यही सङ्घर्ष दो समान-बल जातियों में हुआ तो दीर्घ-काल-व्यापी युद्ध अवश्यम्भावी है। जातीय उन्नति पर युद्ध का बड़ा ही घातक परिणाम होता है। युद्ध में प्राय वही लोग सम्मिलित होते हैं जो शक्ति-सम्पन्न हैं। परिणाम यह होता है कि जाति के शक्ति-शाली वीरों का तो संहार युद्ध में हो जाता है और जाति की वंश-रक्षा का भार निर्बल और अयोग्य व्यक्तियों पर पड़ता है जो जीवित रहते हैं। उनकी सन्तानों में शक्ति-हीनता बढ़ती जाती है और अन्त में जाति सर्वथा शक्ति हीन हो जाती है। तुर्क जाति की शक्ति के ह्रास का एक प्रधान कारण यही दीर्घ काल व्यापी युद्ध है। ग्रीस और रोम के जातीय अध पतन के भी यही कारण हैं। वेरी नामक एक विद्वान ने लिखा है कि रोम में युद्धों के बाद रोमनों की संख्या अत्यन्त कम हो गई थी। संख्या-वृद्धि हुई दासों की, जो युद्ध में सम्मिलित नहीं होते थे। यह संख्या इतनी कम हो गई थी कि सम्राट् आगस्टस ने जन-संख्या की

वृद्धि के लिए धन देना आरम्भ किया था। सच तो यह है कि ग्रीस, राम, कार्थेज, मिस्र, अरब आदि सभी देशों का पतन इसी कारण से हुआ। शक्तिशाली व्यक्तियों का क्षय और निकृष्ट श्रेणी के व्यक्तियों की प्रधानता होने से जाति में दुर्बलता बढती ही जायगी और उसका पतन अवश्यम्भावी है।

भारतवर्ष के इतिहास में जातीय उत्थान और पतन के कितने ही उदाहरण मिलते हैं। यहाँ हम उपर्युक्त सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए भारतीय इतिहास की पर्यालोचना करेंगे।

वैदिक-युग में आर्यों से अनार्यों का सङ्घर्षण हुआ। आर्य्यों ने अनार्यों को पराजित कर पञ्जाब को स्वायत्त किया। अनार्य जातियाँ शारीरिक गठन, मानसिक वृत्त और नैतिक बल में आर्य-जाति से हीन थीं। इससे आर्यों का व्यवहार तीन प्रकार से हो सकता था। पहला यह कि अनार्य जाति को बिलकुल उन्मूल कर देना। चाहे इच्छा से हो अथवा अनिच्छा से, अमरीका और आस्ट्रेलिया में योरोपीय जातियों ने इसी नीति का अनुसरण किया है। दूसरा ढग है, अन्तर्विवाह द्वारा इन दोनों जातियों का सम्मिश्रण हो जाना। मुसलमानों ने विजित जातियों से ऐसा ही सम्बन्ध किया था। परन्तु इससे उनमें निकृष्ट विजित जातियों के दोष आगये और फल यह हुआ कि उनका वंश निकृष्ट हो गया। तीसरा यह कि अपने ही समाज में उनको निम्न-स्थान देकर उनकी रक्षा करना। भारतीय आर्यों ने यही किया। आर्य और अनार्य जाति में वर्णसङ्करता का निवारण करने के लिए वर्णभेद की सृष्टि हुई।

पहले-पहल भारतीय आर्यों की एक ही जाति थी। क्रमश समाज की उन्नति से उसमें श्रम-विभाग हुआ। जो समाज का उत्कृष्ट अश था वह ज्ञान-चर्चा और शासन-कार्यों में निरत हुआ। अवशिष्ट

लोग कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि में संलग्न हुए। इस प्रकार आर्य्यों में तीन वर्णों की सृष्टि हुई, किन्तु उनमें परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध प्रचलित था। क्रमशः वैश्यों से ब्राह्मण और क्षत्रियों का वैवाहिक सम्बन्ध कम होने लगा। परन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों में यह सम्बन्ध बना ही रहा। रामायण और महाभारत में कितने ऐसे ऋषियों का उल्लेख किया गया है जिन्होंने राज कन्याओं का पाणि-ग्रहण किया था। उनकी सन्तान वर्णसङ्कर जाति में नहीं गिनी जाती थी। परन्तु शूद्रों और द्विजों के सम्मिश्रण से जो वर्णसङ्कर जाति उत्पन्न होती थी वह हेय समझी जाती थी। इसी लिए वर्ण भेद की सृष्टि कर कृत्रिम निर्वाचन के द्वारा ब्राह्मण वंश में पाण्डित्य, क्षत्रिय-वंश में शौर्य और वैश्य वंश में कला-नैपुण्य की रक्षा की गई। कहना नहीं होगा कि इसी प्रथा के कारण हिन्दू-जाति विजातीय सङ्घर्षण को सह कर अब तक जीवित रह सकी है।

अब विचारणीय यह है कि हिन्दू-जाति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास क्यों हुआ। प्राचीन काल में उसने जो उन्नति की थी, उसकी शक्ति अप्रतिहत थी, उसका वैभव ...ल था। उसने अपनी वंश-रक्षा की ओर भी ध्यान दिया। ... उसकी अवनति क्यों हुई? बात यह है कि जो सभ्यता एकता-... क नहीं है वह जाति-समस्या को दूर नहीं कर सकती। उससे ... भेदों की वृद्धि होती जायगी। यह सच है कि भारत ने ...न काल में उस बृहत् सत्य का आविष्कार कर लिया था ... सभी अनेक्यों में एकता हो जाय। यह भाव उसकी ... के मूल में था। किंतु भारतीय सभ्यता का यह आदर्श ...ता मूलक था समाज में कभी प्रचलित नहीं हो सका। ... के संरक्षण के लिए वर्ण-व्यवस्था अवश्य अनुकूल थी।

परन्तु उससे जाति-भेद की समस्या दूर नहीं हो सकती। संरक्षण नीति आत्म-रक्षा के लिए उचित है, किन्तु हिन्दू समाज को सदैव आत्म-रक्षा की चिन्ता तो थी नहीं। जब तक बाह्य सङ्घर्षण है तब तक समाज में संरक्षण नीति सफल हो सकती है। परन्तु बाह्य सङ्घर्षण के दूर होते ही वही नीति समाज को सङ्कुचित कर देती है। अल्प-संख्यक आर्यजाति ने बहु-संख्यक अनार्य-जातियों पर अपनी उच्च शारीरिक और मानसिक शक्ति से विजय प्राप्त कर ली। उसने एक बृहत् सत्य का आविष्कार कर उनको अपनी जाति में सम्मिलित भी कर लिया। परन्तु वर्ण भेद बना ही रहा। फल यह हुआ कि आर्यजाति के साथ अनार्य जातियों की भी संख्या-वृद्धि होने से समाज में भेदों की संख्या बढ़ती ही गई। आर्य जाति उस बृहत् सत्य को तो भूल गई जिसमें सभी भेदों का सामञ्जस्य हो सकता है और वह भिन्नता ही पर जोर देने लगी। अतएव भारत में सङ्घर्षण सदैव विद्यमान रहा। भिन्न भिन्न युगों में कितने ही महात्माओं ने जन्म लेकर इसी भेद को दूर कर एकता स्थापित करने की चेष्टा की। परन्तु यह एकता केवल आध्यात्मिक जगत् में रही। व्यावहारिक जगत् में उन महात्माओं की चेष्टा से नये नये पन्थों और नई नई जातियों की ही सृष्टि हुई। भिन्न भिन्न समाजों की सृष्टि से समाज की सीमा सङ्कुचित होती गई और अत्यन्त सङ्कुचित हो जाने के कारण समाज में श्रेष्ठ शक्ति का पूर्ण विकास नहीं हुआ। कहीं शक्ति का अति सञ्चय होने से उसका अपव्यय होता था तो कहीं उदीयमान शक्ति के विकास के लिए अनुकूल अवस्था ही नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि जिस वर्ण-व्यवस्था से हिन्दू जाति आत्म-रक्षा कर सकती थी उसीसे उसकी उन्नति की गति अवरुद्ध हो गई। समाज के सङ्कुचित होने का एक

दुष्परिणाम है विलासिता। विलासिता की वृद्धि तभी होती है जब किसी क्षुद्र सीमा में शक्ति का अति सञ्चय हो जाता है। पुराणों में यदु-वंश की पतन-कथा इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। महाराज यदु के श्रेष्ठ वंश का भी पतन इसी शक्ति के अति सञ्चय से हुआ। दूसरी बात यह है कि ऐसे समाज पारस्परिक विरोध पर अधिक ध्यान देते हैं। इसका फल सङ्घर्षण है, और पारस्परिक सङ्घर्षण के कारण शक्ति का सदैव अपव्यय होता है। इससे भी जाति की शक्ति क्षीण होती जाती है। जाति के अशक्त होने पर उसमें वर्ण सङ्करता का दोष अवश्य आता है। यही कारण है कि महाभारत के युद्ध में अर्जुन ने अपनी जाति के भविष्य के विषय में जो आशङ्का प्रकट की थी वह ठीक ही उतरी। प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्यों अथवा गुप्तों का साम्राज्य अस्थायी ही रहा। इसका कारण समाज भेद, वर्ण-सङ्करता और विलासिता वृद्धि है। मध्य-युग में मुसलमान जाति के आगमन से भारत में एक समस्या और बढ़ गई। हिन्दू-जाति ने वर्ण-व्यवस्था के कारण अपने अस्तित्व को अवश्य अक्षुण्ण रक्खा। परन्तु उसमें एक जातीयता का भाव लुप्त हो गया। धार्मिक-सम्प्रदायों और समाज भेदों ने उसे दासत्व में ही रक्खा। इसीसे उसने कभी जातीय भाव से प्रेरित हो उठने की प्रबल चेष्टा नहीं की। इसका कारण यही हो सकता है कि उनमें एक-जातीयता का भाव था ही नहीं। राजपूत, मरहठे और सिक्खों ने अपनी अपनी उन्नति के लिए स्वतन्त्र चेष्टायें कीं। इन्होंने उन्नति तो अवश्य की। परन्तु उनका अभ्युदय क्षण-स्थायी ही रहा। इसका कारण है सङ्कुचित सीमा में शक्ति का प्रसार। गुरु गोविन्द ने सिक्खों को एक जाति के रूप में परिणत कर अदम्य बना दिया। परन्तु उसी शक्ति से उनका पतन भी हुआ। मरहठों और राजपूतों की भी यही दशा हुई। सङ्घर्षण

ही रहा और उसमें शक्ति का अपव्यय होता रहा।

भारत की यह जाति-समस्या अभी तक विद्यमान है। उसके विषय में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि भारत ने विधि निषेध द्वारा भिन्न भिन्न जातियों के पारस्परिक सघात को दूर करने की चेष्टा की है। परन्तु इस प्रकार का अभावात्मक आयोजन दीर्घ काल तक ठहर नहीं सकता। मानव-समाज यन्त्र की तरह परिचालित नहीं हो सकता। जिन जातियों का इतिहास स्वतन्त्र है, जिनके सामाजिक और नैतिक आचारों में भिन्नता है उनका पारस्परिक सङ्घर्ष तभी बन्द हो सकता है जब एकता की भित्ति प्रेम-मूलक हो। भारतवर्ष में ऐसा भावात्मक ऐक्य मूलक आध्यात्मिक आदर्श है। सुप्त होने पर भी वह प्राण-हीन नहीं हुआ है। उसमें यह शक्ति है कि वह सभी बाह्य अनैक्यों को स्वीकार करके भी अन्तर्गत एकता को देखता है। भारतवर्ष के ज्ञान के कारखाने में वह सोने की कुञ्जी तैयार है जो एक दिन सभी द्वारों को खोल देगी और चिरकाल से विच्छिन्न जातियों को प्रेम के महानिमन्त्रण में सम्मिलित करेगी।

४—राष्ट्र-समस्या

संसार में आज तक कितने ही राष्ट्रों द्वारा कितने विशाल साम्राज्य-स्थापित हुए। परन्तु कुछ समय के बाद उनका आधिपत्य नष्ट हो गया। अब उनके ध्वंसावशेषों से उनके वैभव का अनुमान किया जाता है। संसार की रङ्गभूमि में राष्ट्रों का यह अभिनय देख कर यह प्रश्न होता है कि क्या कोई राष्ट्र चिरन्तन नहीं हो सकता। जो लोग उत्थान और पतन को प्रकृति का नियम समझते हैं उनका यह विश्वास है कि कोई भी राष्ट्र चिरकाल तक स्थिर नहीं रह सकता। जिस शक्ति से कोई जाति उन्नति के शिखर पर पहुँचती है उसी से अन्त में उसका पतन होता है। जो शक्ति उद्भावनी है वही संहारिणी है। परन्तु राष्ट्रों के इस उत्थान-पतन से मानव-जाति उन्नति के ही पथ पर अग्रसर हुई है। भिन्न-भिन्न जातियों के सङ्घर्षण से मानव जाति की अन्तर्निहित शक्ति उद्दीप्त ही होती गई। यद्यपि यह कोई नहीं जानता कि मानव जाति का भविष्य क्या है तथापि अतीत काल से शिक्षा ग्रहण कर मनुष्य अपने भविष्य भाग्य का निर्माण कर रहा है। यदि वह अतीत-काल के भ्रमों का संशोधन कर सका तो यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि संसार का भविष्य उज्ज्वल

है। इसी दृष्टि से यहाँ हम ससार के भिन्न भिन्न राष्ट्रों पर विचार करना चाहते हैं।

ससार का इतिहास तीन कालों में विभक्त किया जाता है—प्राचीन-काल, मध्य-युग और नवोत्थित-काल। पूर्वैतिहासिककाल में मानव-जाति की कैसी अवस्था थी, यह पुरातत्त्व का विषय है। जब हम ऐतिहासिक काल का निरीक्षण करते हैं तब हम सभ्यता का भव्य रूप ही देखते हैं। प्राचीनकाल में भारत, चीन, मिस्र, ग्रीस और रोम उन्नतावस्था में थे। प्राचीन-काल में जो जातियाँ असभ्य समझी जाती थीं उनका प्राबल्य मध्ययुग में हुआ। इस युग में मुसलमानों की विशेष श्री-वृद्धि हुई। उनका पतन होने पर आधुनिक योरप का आधिपत्य बढ़ा। इन तीन युगों में तीन विभिन्न भावों की प्रधानता रही। प्राचीन-युग में व्यक्तित्व की प्रधानता थी। मध्य-युग में धर्म ने राजनीति को आक्रान्त कर लिया। वर्तमान काल म व्यवसाय और राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि प्राचीन-युग में व्यक्ति, मध्य-युग में समाज और वर्तमान युग में राष्ट्र प्रबल हुए।

इतिहास में काल विभाग की यह कल्पना भ्रामक हो सकती है। इसका कारण है मानव-जाति का स्वभाव-वैचित्र्य। सभी काल में भिन्न भिन्न आदर्शों में एक प्रकार का सङ्घर्षण होता रहता है। आदर्शों के इस पारस्परिक सङ्घर्षण से समाज का स्वरूप परिवर्तित होता रहता है। कहा जाता है कि History repeats itself अर्थात् अतीतकाल की घटना वर्तमानकाल में फिर अपने पूर्व रूप में आ जाती है। परन्तु इतिहास की सभी घटनाओं पर काल का प्रभाव ऐसा चिरस्थायी होता है कि कोई भी बात अपने पूर्व रूप में नहीं आ सकती। वृद्ध बालक का

अभिनय कर सकता है, पर वह बालक नहीं हो सकता। मतलब यह कि मानव-स्वभाव की परिवर्तनशीलता के कारण भिन्न भिन्न कालों में तदनुकूल भिन्न भिन्न आदर्श स्थिर होते हैं। परन्तु इन पर अतीत की छाया बनी रहती है। वर्तमान युग में प्राचीन काल का आदर्श स्वीकृत हो सकता है, पर परिवर्तित रूप में ही उसका अनुसरण किया जा सकता है। इसीलिए जब हम यह कहते हैं कि प्राचीन युग मे व्यक्ति प्रधान था और मध्य-युग में समाज, तब उसका मतलब यही है कि प्राचीन युग में व्यक्ति और समाज का सङ्घर्षण था और वह मध्य-युग में भी विद्यमान रहा। इसी प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीयता के प्रधान होने पर व्यक्ति और समाज का सङ्घर्षण लुप्त नहीं हुआ। अब सभी देशों में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में सङ्घर्षण हो रहा है।

प्राचीन युग में भारत, ग्रीस और रोम सभ्यता के केन्द्र थे। सभी सभ्यताओं में मनुष्यों का कोई न कोई आदर्श पाया जाता है। उसी आदर्श पर उसका सामाजिक और राजनैतिक जीवन का सङ्गठन होता है। भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा की सम्पूर्णता ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य थी। इस आदर्श पर समाज का विभाग भी किया गया जिससे विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्तियों की सम्पूर्णता के लिए भिन्न भिन्न व्यवस्थायें निश्चित कर दी गई। भारतवासियों ने व्यक्ति को प्रधानता देकर उसपर राष्ट्र और समाज का अधिकार कम कर दिया। राष्ट्र अथवा समाज व्यक्ति का प्रतिबन्धक नहीं था, किन्तु उसके इष्ट-साधन में सहायक था। राष्ट्र नियन्ता नहीं था, वह देश-रक्षा का उपाय मात्र था। श्रम विभाग के अनुसार राजा के हाथ में देश-रक्षा का भार सौंप गया। परन्तु राजा पर समाज अवलम्बित नहीं था।

समाज की जीवन-शक्ति राजसभा में नहीं थी, किन्तु व्यक्ति-समूह में थी। यही कारण है कि हिन्दू-साम्राज्य का विध्वंस हो जाने पर भी हिन्दू-समाज छिन्न भिन्न नहीं हुआ और न उसकी चिरकालार्जित आदर्श-सम्पत्ति ही नष्ट हुई। प्राचीन भारत का वैभव उसकी पार्थिव क्षमता नहीं था, यद्यपि उसकी यह क्षमता भी खूब बढ़ी-चढ़ी थी। प्राचीन भारत का गौरव आज तक अक्षुण्ण है और यह है उसका आत्मिक विकास। उसके लिए आत्मा ही द्रष्टव्य, मन्तव्य और श्रोतव्य था। उसने दूसरे देशों में राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा कभी नहीं की। यही नहीं, किन्तु उसने दूसरों को भी अपने वृहत् समाज में मिला लिया।

भारतीय आदर्श का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि देश की राजनैतिक शक्ति राजा में केन्द्रीभूत हो गई और प्रजा भक्ति के आवेश में राजनैतिक सत्ता से उदासीन हो गई। हिन्दू-राजाओं में स्वेच्छाचारिता का अभाव अवश्य था। इसका कारण यह नहीं है कि प्रजा उनकी राजनैतिक शक्ति में हस्तक्षेप करती थी। बात यह थी कि राजा समाज से पृथक् नहीं था, वह उसका अङ्ग था, और इसी लिए वह लोक-मर्यादा के विरुद्ध नहीं चल सकता था। जब कभी किसी राजा ने राजनीति के केन्द्र से बाहर आकर समाज पर आघात किया तभी उसका विरोध किया गया। भारतीय इतिहास में प्रजा विद्रोह का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें प्रजा ने राजा की राजनैतिक सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न किया हो। मुसलमानों के शासन-काल में भी हिन्दू प्रजा अपनी अवस्था से सन्तुष्ट थी। वर्तमान युग में जो अशान्ति फैली है उसका कारण यह है कि राजनीति का आदर्श ही परिवर्तित हो गया है और वर्तमान युग के लिए अभी

तक ऐसा आदर्श निश्चित नहीं हुआ है जो इस विश्वव्यापी अशान्ति को दूर कर सके। अस्तु।

ग्रीस में राष्ट्रीय कर्म-क्षेत्र में ही समाज का प्रकृत जीवनी शक्ति थी। कहा गया है कि ग्रीस की सभ्यता का जन्म नगरों में हुआ था। अतएव ग्रीस का प्रत्येक नगर एक राष्ट्र हो गया था और इसी को पुष्ट करना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य था। ग्रीस में राष्ट्र से पृथक् व्यक्तिगत स्वतन्त्र जीवन नहीं था। आधुनिक योरप में अभी तक इसी आदर्श का किसी न किसी रूप में अनुसरण किया जाता है। इसी आदर्श ने व्यक्ति और राष्ट्र में विरोध उत्पन्न किया। देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि सभी लोग एक ही उद्देश्य से उसके लिए प्रयत्न करें। परन्तु उसके लिए व्यक्ति के आत्मिक विकास का बलिदान नहीं किया जा सकता। ग्रीस की अवनति का प्रधान कारण था उसकी नैतिक और आत्मिक उन्नति की असम्पूर्णता। ग्रीस की आध्यात्मिक उन्नति उसकी पार्थिक उन्नति की अपेक्षा हीन ही रही। इसीलिए जब व्यक्ति से राष्ट्र का सम्बन्ध घटने लगा तब ग्रीस के जातीय जीवन में शिथिलता आने लगी और अन्त में व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य के विकास से ग्रीस की सभ्यता का भी लोप हो गया।

रोम ने ग्रीस के नागरिक राज्यों को नष्ट कर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। रोम की राजनैतिक सत्ता में जन समूह का प्रभाव था। तो भी वहाँ व्यक्ति विशेष की प्रभुता अक्षुण्ण रही। जब रोम ने संसार के अधिकांश भाग को स्वायत्त कर लिया तब उसका पार्थिव वैभव खूब बढ़ गया। इस वैभव पर रोम के जन-समूह का भी अधिकार हो गया। समाज के एक क्षुद्रांश में जब सम्पत्ति केन्द्रीभूत हो जाती है तब

उसका कितना विषमय फल होता है, यह रोम के इतिहास से सिद्ध है। रोम के सर्व-साधारण अपनी आर्थिक उन्नति और क्षमता के कारण मदोन्मत्त हो गये थे। उनकी पाशव प्रवृत्ति और दुराचार का वर्णन पढ कर घृणा होने लगती है। यह सच है कि रोम ने प्रजासत्ताक राज्य का जन्म दिया। उसने विद्या और विज्ञान की भी उन्नति की। परन्तु उसकी विजय-लालसा और क्षमता वृद्धि से तत्कालीन समाज ने लाभ नहीं उठाया, परवर्ती समाज ने उससे शिक्षा अवश्य ग्रहण की। ईसाई धर्म में सांसारिक वैभव का तिरस्कार किया गया है और क्षमता के स्थान में प्रेम और सहनशीलता का आदर है। इसी धर्म ने योरप की सभ्यता का नवीन रूप दिखलाया। तब राजनीति और समाज में धर्म का प्रभुत्व स्थापित हुआ। यही मध्ययुग का प्रारम्भकाल है। शासक और शासित-वर्ग, राजा और प्रजा, दोनों के लिए समाज ने एक मर्यादा निश्चित कर दी। पोप की शक्ति का प्रधान कारण यही था कि वह लोक-मर्यादा का संरक्षक समझा जाता था। योरप इसे पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि समझता था। पोप के व्यक्तित्व पर कोई शक्ति आरोपित नहीं की गई थी। शक्ति समाज की थी और पोप उसका प्रतिनिधि था। योरप में जो स्थान पोप का था मुसलमान-साम्राज्य में वही स्थान खलीफा को दिया गया था। पर खलीफा मुसलमानों की राजनीति और धर्म दोनों का परिचालक था। यद्यपि वर्तमान युग में खलीफा का वह राजनैतिक प्रभुत्व नहीं रहा जो पहले था तो भी धर्म में उसका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा।

मध्य-युग में मुसलमानों की खूब श्री-वृद्धि हुई। सातवीं शताब्दी में मुहम्मद ने अपना मत चलाया। जिन जातियों में पहले सङ्गठन के अभाव से शक्ति नहीं थी उन्हें धर्म के सूत्र में

बद्ध कर मुहम्मद ने ससार की सर्वश्रेष्ठ जाति में परिणत कर दिया। मध्ययुग में मुसलमानों ने ही सर्वत्र विद्या और विज्ञान का प्रचार किया।

मुसलमानों की उन्नति का सब से बड़ा कारण यह है कि उन्होंने धर्म को राजनीति से पृथक् नहीं किया। बगदाद का खलीफा मुसलमान साम्राज्य का अधिपति था और वही उनके धर्म का आचार्य था। धार्मिक मुसलमान राजनैतिक शक्ति की कामना से युद्ध नहीं करता था, किन्तु वह सत्य के प्रचार के लिए अपना बलिदान करता था। मध्ययुग की किसी दूसरी जाति में धार्मिक भावों की यह प्रबलता नहीं थी। यह सच है कि मुसलमानों के साथ जब ईसा धर्मावलम्बियों का युद्ध हुआ तब पोप की प्रार्थना पर सभी ईसाई सम्राट् सम्मिलित हुए। परन्तु सब सम्राटों का एक लक्ष्य कभी न हुआ। आत्म-रक्षा के लिए अपने समान-शत्रु के विरुद्ध कुछ लोग कुछ समय के लिए एकता स्थापित कर सकते हैं, पर ऐसी एकता चिरस्थायी नहीं हो सकती। ईसाई सम्राटों को धर्म-रक्षा से अधिक अपने देश की रक्षा का ध्यान था। वे जानते थे कि ईसाई मत की उन्नति से उनके देश की उन्नति नहीं होगी और न उसकी अवनति से उनके देश का पतन ही होगा। पोप का धार्मिक प्रभुत्व नष्ट हो जाने पर फ्रांस और इंग्लैंड अधः पतित नहीं हुए। परन्तु मुसलमानों का लक्ष्य दूसरा था। खलीफा की उन्नति से उनकी उन्नति थी और उसकी अवनति से उनका पतन था। जब संसार में व्यक्ति और समाज का सङ्घर्ष था तब मुसलमानों में यह प्रश्न उठा ही नहीं। यही उनकी उन्नति का प्रधान कारण था और यही उनके पतन का मुख्य कारण हुआ। मुसलमानों का यह धार्मिक भाव एक क्षुद्र सीमा में ही प्रबल हो सकता है। जल में पत्थर फेंकने से जो लहर उठती है वह बढ़ती

उसका कितना विषमय फल होता है, यह रोम के इतिहास से सिद्ध है। रोम के सर्व साधारण अपनी आर्थिक उन्नति और क्षमता के कारण मदोन्मत्त हो गये थे। उनकी पाशव प्रवृत्ति और दुराचार का वर्णन पढ़ कर घृणा होने लगती है। यह सच है कि रोम ने प्रजासत्ताक राज्य का जन्म दिया। उसने विद्या और विज्ञान की भी उन्नति की। परन्तु उसकी विजय-लालसा और क्षमता वृद्धि से तत्कालीन समाज ने लाभ नहीं उठाया, परवर्ती समाज ने उससे शिक्षा अवश्य ग्रहण की। ईसाई धर्म में सासारिक वैभव का तिरस्कार किया गया है और क्षमता के स्थान में प्रेम और सहनशीलता का आदर है। इसी धर्म ने योरप की सभ्यता का नवीन रूप दिखलाया। तब राजनीति और समाज में धर्म का प्रभुत्व स्थापित हुआ। यही मध्ययुग का प्रारम्भकाल है। शासक और शासित-वर्ग, राजा और प्रजा, दोनों के लिए समाज ने एक मर्यादा निश्चित कर दी। पोप की शक्ति का प्रधान कारण यही था कि वह लोक-मर्यादा का संरक्षक समझा जाता था। योरप इसे पृथ्वी पर भगवान् का प्रतिनिधि समझता था। पोप के व्यक्तित्व पर कोई शक्ति आरोपित नहीं की गई थी। शक्ति समाज की थी और पोप उसका प्रतिनिधि था। योरप में जो स्थान पोप का था मुसलमान साम्राज्य में वही स्थान खलीफा को दिया गया था। पर खलीफा मुसलमानों की राजनीति और धर्म दोनों का परिचालक था। यद्यपि वर्तमान युग में खलीफा का वह राजनैतिक प्रभुत्व नहीं रहा जो पहले था तो भी धर्म में उसका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा।

मध्य-युग में मुसलमानों की खूब श्री-वृद्धि हुई। सातवीं शताब्दी में मुहम्मद ने अपना मत चलाया। जिन जातियों में पहले सङ्गठन के अभाव से शक्ति नहीं थी उन्हें धर्म के सूत्र में

व्यवसाय-वृद्धि। इसका परिणाम यह हुआ कि अब राष्ट्रों के पारस्परिक विग्रह में उसी राष्ट्र की विजय हो सकती है जो सब से अधिक समृद्धिशाली हो।

वर्तमान युग में योरप का ही व्यवसाय सब से अधिक उन्नत है। अमरीका और जापान की शक्ति का भी प्रधान कारण है उनका व्यवसाय। व्यवसाय के क्षेत्र में छोटे बड़े सभी राष्ट्र एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं। संसार के व्यवसाय को स्वायत्त करने के लिए अभी तक कई महायुद्ध हो चुके हैं। आधुनिक योरप का इतिहास एक व्यावसायिक युद्ध से आरम्भ हुआ है। गत योरपीय महासमर का भी कारण यही प्रतियोगिता है। अपनी समृद्धि के लिए अब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सम्पत्ति हड़प जाने में जरा भी संकोच नहीं करता। परन्तु राजनैतिक सत्ता से ही यह सम्भव नहीं है। ब्रिटिश साम्राज्य सब से अधिक शक्तिशाली है। परन्तु व्यवसाय के क्षेत्र में वह अद्वितीय नहीं है।

अब प्रश्न यह होता है कि यह राष्ट्र है क्या? क्या यह सजीव व्यक्तियों का समुदाय है अथवा सिर्फ एक निर्जीव विचार मात्र है जिसका अस्तित्व केवल राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में है। जब यह कहा जाता है कि किसी देश की सम्पत्ति इतनी है तब अर्थ शास्त्र के विद्वान अङ्कगणित के द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि उक्त देश के प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति इतनी है। परन्तु क्या राष्ट्र की सम्पत्ति पर प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार है? क्या राष्ट्र की उन्नति होने पर प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति करने का अवसर मिलता है? बात यह है कि थोड़े ही योग्य मनुष्यों में राष्ट्र की शक्ति और सम्पत्ति विभक्त हो गई है। वर्तमान
सब से बड़ा कारण यह है कि अब प्रत्येक व्यक्ति
के लिए क्षेत्र चाहता है।

जाती है। पर ज्यों ज्यों वह बढ़ती है त्यों त्यों उसकी शक्ति क्षीण होती जाती है। यही हाल मुसलमानों की धर्म-शक्ति का था। जब उनका प्रसार खूब हो गया तब उनकी यह शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई। जो भावना अल्पसंख्यक लोगों में विभक्त होकर तीव्र हो गई थी वह बहुसंख्यक मनुष्यों में फैल कर मानों निस्तेज होगई। देशों के व्यवधान ने मुसलमानों के धार्मिक भावों को दूर कर दिया और उन्हें भी धर्म की अपेक्षा देश-रक्षा का ध्यान अधिक होने लगा। देश-रक्षा के लिए प्रजा-वर्ग की सहयोगिता चाहिए। मुसलमानों की धार्मिक भावना ने जहाँ जहाँ राजा और प्रजा में एक व्यवधान खड़ा कर दिया था वहाँ उनका आधिपत्य नष्ट हो गया। जहाँ राजा और प्रजा में किसी प्रकार का धार्मिक व्यवधान नहीं था, जहाँ एक ही समाज का प्राबल्य था, वहाँ मुसलमानों का आधिपत्य आज तक विद्यमान है।

रोम-साम्राज्य के अधःपतन होने पर भिन्न भिन्न देशों के राजाओं की शक्ति बढ़ गई। सभी राजा अपने अपने स्वार्थ साधन की चेष्टा करने लगे। सभी अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे, पर यह कोई नहीं चाहता था कि किसी एक की शक्ति सबसे अधिक हो जाय। इसी लिए राजाओं में बल-साम्य का आदर्श निश्चित हुआ। सन्धि द्वारा कुछ नरेश मिल कर अपने पक्ष को पुष्ट करने लगे। इसी समय योरप में नव-युग स्थापित हुआ। मध्य-युग के बाद सर्वसाधारण में विद्या और विज्ञान का प्रचार होने से जो जागृति हुई उससे समाज में राजनैतिक जागृति भी हुई। समाज का राजनीति से और राजनीति का व्यवसाय से घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। पहले तो राजा और प्रजा में राजनैतिक सत्ता के लिए बड़ा विरोध हुआ। पर अन्त में राज्य पर राष्ट्र का ही प्रभुत्व स्थापित हुआ। राष्ट्र की प्रभुता का कारण था उसकी

विनोद

छाया-वाद

हिन्दी में छायावाद के प्रचार के सम्बन्ध में मैंने एक कथा सुनी थी। वह सच हो या झूठ, मैं उसे यहाँ लिख देना उचित समझता हूँ। यथार्थता का निर्णय-भार पाठकों पर है।

(१)

सुशीला ने ब्राह्म-कन्या विद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। ललित-कलाओं पर उसका बड़ा अनुराग था। काव्य और सङ्गीत पर तो वह बिलकुल ही मुग्ध थी। इन कलाओं की उन्नति के लिए वह अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार रहती थी। भाग्य से उसका विवाह बाबू हरिकिशोर के साथ हुआ। हरिकिशोर बाबू थे तो अरसिक, पर लक्ष्मी की कृपा-दृष्टि उन पर खूब थी। वे साहित्य-सङ्गीत-कला विहीन हो कर भी साक्षात् पुच्छ-विषाण-हीन पशु नहीं थे। कम से कम उन्हें पशु कहने का साहस कोई नहीं कर सकता था। पर वे सुशीला के कार्य में बाधा नहीं डालते थे। सुशीला जैसा चाहती वैसा खर्च करती और वह प्राय चित्रकारों और कवियों की ही सेवा में अपना धन अर्पण करती। थोड़े ही दिनों में सुशीला का नाम प्रसिद्ध हो गया। वह काव्य और कला की मर्मज्ञा समझी जाने लगी।

बड़े बड़े साहित्यिक और कलाकोविद् उससे भेंट करने के लिए आने लगे। सुशीला भी उनके साथ काव्य और कला की पर्यालोचना कर सुख से काल यापन करने लगी।

सुशीला को एक ही बात का खेद था। वह यह कि हरिकिशोर बाबू बिलकुल अरसिक थे। उन्हें ललित-कलाओं से जरा भी प्रेम नहीं था। यह सच है कि कोविदों की मण्डली में बैठ कर आप अपनी स्त्री की हाँ में हाँ मिलाते थे। पर काव्य और कला का ज्ञान न रहने के कारण कभी कभी आपसे बड़ी भद्दी भूल हो जाती थी। समझने वाले समझ जाते। पर आप कभी झेंपते नहीं थे। सुशीला ने अपने पति की जड़ता दूर करने की खूब कोशिश की। वह हरिकिशोर बाबू को सदैव अपने साथ चित्रागारों में ले जाती और वहाँ सभी चित्रकारों के चित्र दिखलाती, उनका गुण दोष समझाती। पर हरिकिशोर बाबू कुछ समझते तो थे नहीं, केवल विस्फारित नेत्रों से अपनी स्त्री की ओर ताकते। जब कभी किसी कवि समाज का निमन्त्रण आता तब सुशीला आग्रह करके हरिकिशोर बाबू को ले जाती। पर इधर कविता का पाठ शुरू हुआ उधर आपकी आँखें झप जातीं। जब सुशीला ने देखा कि हरिकिशोर बाबू सुधरने के नहीं तब वह हताश होगई और वीणा सम्पादक पण्डित देवव्रत शर्मा जी की शरण में गई। उस दिन से प्रतिदिन वीणा सम्पादक सुशीला के घर में ही आकर साहित्य और कला की चर्चा करने लगे।

(२)

५ सितम्बर सन् १९२१ की बात है। बाबू हरिकिशोर जी अपने पुस्तकालय के एक कोने में बैठे टाइम्स आव् इण्डिया के पन्ने लौट रहे थे। पण्डित देवव्रत जी शेक्सपीयर-नाटकावली की एक बड़ी सुन्दर जिल्द लेकर देख रहे थे। सुशीला ड्रायडन की

कोई कविता पढ़ रही थी। थोड़ी देर के बाद पण्डित देवव्रत जी ने किताब को मेज पर रख कर कहा—मैं सुशीला देवी की सुरुचि की प्रशंसा करूँगा। उन्होंने पुस्तकों के बड़े सुन्दर संस्करणों का संग्रह किया है।

इतना कह कर वे क्षण भर के लिए रुक गये और फिर गम्भीर स्वर से बाबू हरिकिशोर की ओर देख कर कहने लगे —

पुस्तकावलोकन के प्रेमी अनेक होते हैं। पर पुस्तकों से कुछ ही लोगों का प्रेम होता है। जिनकी कृतियों से हमें ज्ञान की उपलब्धि होती है उनके प्रति हमारा एक कर्तव्य यह है कि हम उनकी रचनाओं को सुरक्षित रक्खें। पुस्तकालयों की स्थापना का एक उद्देश यह भी है। कुछ लोगों को पुस्तकों का संग्रह करने का बड़ा चाव होता है। अपनी इस सदिच्छा की पूर्ति के लिए वे अपनी ओर से कुछ भी नहीं उठा रखते। इँगलैंड के कुछ प्रधान सचिव बड़े पुस्तक प्रेमी हो गये हैं। ग्लैडस्टन साहब को पुस्तक पढ़ने और संग्रह करने का बड़ा शौक था। हारले साहब पुस्तक इकट्ठा करने के शौकीन थे। मेलवर्न साहब ने अपने पुस्तकालय में विचित्र ग्रन्थों का संग्रह कर रक्खा था। भारतवर्ष में एक ऐसे ही पुस्तक प्रेमी विद्वान की कृपा से प्राचीन अरबी और फारसी साहित्य के ग्रन्थ-रत्नों का अपूर्व संग्रह है। यह खुदाबख्श लाइब्रेरी में सुरक्षित है। मैं अमरीका के एक पुस्तक-प्रेमी का हाल आपको सुनाता हूँ। सुनेंगे?

हरिकिशोर जी ने कहा—मैं सुनूँ या न सुनूँ, सुशीला तो खूब ध्यान-पूर्वक सुन ही रही है।

देव व्रत जी फिर कहने लगे—इन का नाम है जेम्स फलिंटन यंग। इनकी यह इच्छा हुई कि एक ऐसा पुस्तकालय स्थापित किया जाय जिसमें संसार भर के ग्रन्थ-रत्नों का संग्रह हो। इनकी

स्थिति साधारण थी, इतना धन नहीं था कि ये अपनी इच्छा को पूरी कर सकें। इसलिए ये पहले अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने में लगे। इन्होंने कुछ जमीन खरीद ली और उसमें लोगों को बसाने लगे। इसमें इन को अच्छा लाभ हुआ। ये कहा करते थे, 'भगवान् जमीन तो बनाते नहीं, मनुष्यों की संख्या-वृद्धि करते जाते हैं। ये लोग रहें तो रहें कहाँ।' खैर, इनमें से कुछ मनुष्यों को इन्होंने रहने की जगह दी और उससे अच्छा लाभ उठाया। तब इन्होंने अपने पुस्तकालय की स्थापना की ओर ध्यान दिया। उनकी इच्छा तो यह थी कि संसार के समग्र साहित्य के सभी अच्छे अच्छे ग्रन्थों का संग्रह किया जाय। पर जब इन्होंने देखा कि यह काम एक मनुष्य के जीवन-काल में सम्भव नहीं तब इन्होंने अपने ही समय के ग्रन्थों को संग्रह करना शुरू किया। जहाँ तक इनसे हो सका वहाँ तक इन्होंने मौलिक संस्करण ही इकट्ठे किये और उन पर ग्रन्थकारों के हस्ताक्षर भी ले लिये। पहले तो इनको कुछ ही सहायक मिले। पर ये अपने उद्योग पर अटल ही रहे। इसका फल यह हुआ कि इनका पुस्तक प्रेम देखकर अच्छे अच्छे लोग आप की सहायता करने लगे। रूमानिया की राज-महिषी एलिजाबेथ, मैडम रगो जिन आदि उच्च कुल की स्त्रियों ने भी इनको सहायता दी। अठारह वर्ष तक ये इसी काम में लगे रहे। अन्त में इन्होंने हज़ारों पुस्तकें एकत्र कर लीं। छ मोटी मोटी जिल्दों में ग्रन्थकारों के नाम और पता लिखे गये हैं। इसी से इनके संग्रह का कुछ अनुमान किया जा सकता है।

बाबू हरिकिशोर जी ने कहा—आप के वृत्तान्त से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मुझे विश्वास है कि सुशीला भी उन्हीं का करेगी। गावों की आमदनी बढ़ाकर उससे अपने पुस्त-

संग्रह बढ़ावेगी। अभी तो उसके इस पुस्तक प्रेम का सारा व्यय मुझे उठाना पड़ता है।

सुशीला ने कहा—और पण्डित जी, इनके चुरुट का सारा व्यय मुझे सहना पड़ता है।

हरिकिशोर—चुरुट? अगर चुरुट न होते तो आपका यह साहित्य ही न होता। पण्डित जी, चुरुटों से सब से बड़ा लोकोपकार हुआ है।

सुशीला—अच्छा, एक दिन मैं आपको चुरुटों के लिए दूंगी। उस दिन आप चुरुट की साहित्य-सेवा पर अपना वक्तव्य सुनावें। पण्डित जी, आज मैं आपको एक दुःखद समाचार सुनाती हूँ।

यह कह कर वह एक सामयिक पत्र का अंश पढ़ कर सुनाने लगी—

जर्मनी के प्रसिद्ध कवि रिचर्ड देमेल की मृत्यु हो गई। विद्वानों की राय है कि नीट्शे के बाद आप के समान शक्तिशाली लेखक दूसरा कोई नहीं हुआ। नीट्शे की रचनाओं की तरह आप की भी रचनायें बड़ी उग्र हैं। लोग आप की कविता को ज्वालामयी बतलाते हैं। एक समालोचक की राय है कि मनुष्यों के अन्तःकरण के विकास में जो चिरन्तन द्वन्द्व जागरूक होता है वही मूर्तिमान होकर आप की कविता में विद्यमान है। आप की तरुणावस्था की रचनाओं में युवावस्था का प्रभाव साफ लक्षित होता है। परन्तु अवस्था के साथ आपने इस मोह का भी अतिक्रमण कर लिया और आप की कविता में प्रेम का विशुद्ध रूप और आध्यात्मिक भाव आ गये। देमेल की अन्तिम रचनाओं के विषय में जर्मनी के प्रसिद्ध औपन्यासिक जान हाफमैन्स्थल ने लिखा है कि जो काव्य-कला में निपुण न होगा वही देमेल में

स्पर्धा करने का साहस करेगा। डेमेल ने अपने अन्तिम जीवन काल मे सामाजिक जीवन-समस्या ही पर काव्य रचना की है। कितने ही लोगों का कथन है कि वाणिज्य और वैभव से इस जर्मनी के हृदय में विश्व-विजय की जो आकाक्षा उद्दीप्त हुई थी उसका कारण डेमेल की कविता भी है। वहाँ के श्रमजीवी सम्प्रदाय तो आप पर देवता के समान श्रद्धा रखते हैं। आप ने मजदूरों की उन्नति के लिए परिश्रम भी ख़ूब किया। आप की लोक प्रियता का अनुमान इतने ही से किया जा सकता है कि वहाँ मजदूर आप की रचनाओं का वैसा ही आदर करते हैं जैसे यहाँ लोग गीता का।

इतना पढ कर वह चुप हो गई। फिर उसने कहा—पण्डित जी, हिन्दी में ऐसे कवि कब होंगे?

पण्डित देवव्रत जी ने कहा—मुझे आश्चर्य है कि आप एक विदेशी कवि के सम्बन्ध में ऐसे प्रशसा-पूर्ण उद्गार निकाल रही हैं जब कि हिन्दी में कृष्णार्जुन "कान्त जी" के समान कवि विद्यमान है। आप वीणा पढा कीजिए। उन्हें हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में लाने का श्रेय मुझे है। उनका छन्दो विन्यास अभूतपर्व है, भाव भी अलौकिक है। देखिए, कवित्व का रहस्य जानने के लिए हमें विज्ञान का अध्ययन करना चाहिए, विशेष कर शरीर विज्ञान और रसायन-शास्त्र का। कविता की व्याख्या करना सहज नहीं है। बड़े बड़े विद्वानों ने बड़ी बड़ी व्याख्यायें की हैं। पर कविता का रहस्योद्घाटन अभी तक नहीं हुआ है। कविता में रस है और अलङ्कार है, चित्र है और सङ्गीत है, भाव है और भाषा है, कल्पना है और सत्य है, सौन्दर्य है और ज्ञान है, अन्त जगत् है और बहिर्जगत् है। कविता की तरह कवि भी रहस्य-मय है। कोई उसे उन्मत्त समझता है तो कोई उसे

कहता है। कितने ही विद्वानों ने कवि के रहस्य जाल को हटा कर उसका यथार्थ रूप देखने की चेष्टा की है पर कोई भी अपनी चेष्टा में सफल नहीं हुआ है। कवि के जीवन की छोटी से छोटी बात का पता लगाया गया है, पर कवित्व स्रोत का उद्गम-स्थान अज्ञात ही है। लोगों के हाथ में वही कलम है जिससे टेनीसन ने कविता लिखी है, परन्तु उस शक्ति का अनुमान तक कोई नहीं कर सकता जिसकी प्रेरणा से टेनीसन ने कविता लिखी है। यह क्या दैवी शक्ति है या शारीरिक शक्ति ? क्या शरीर के साथ उस शक्ति का कोई भी सम्बन्ध नहीं है ? मन पर शरीर का कुछ न कुछ प्रभाव अवश्य पड़ता है। अतएव कवि का रहस्य जानने के लिए कवि की शरीर क्रिया पर क्यों न विचार किया जाय ?

यह कह कर देवव्रतजी ने बाबू हरिकिशोर की ओर देखा। हरिकिशोर बाबू समझ गये कि यह दृष्टि पात किसी लम्बी व्याख्या का सूचक है। उन्होंने तुरन्त एक चुरट जला कर पण्डित जी से से कहा—अवश्य। डाक्टर ही कवि का मर्मज्ञ हो सकता है।

देवव्रतजी ने कहा—बहुत ठीक। कुछ दिन पहले की बात है। डाक्टर डेविड ए० एलग्जेंडर नामक एक व्यक्ति ने ब्रिटिश मेडिकल जर्नल मे एक पत्र प्रकाशित किया था। उसमें आप ने यह लिखा था कि जब वक्ताओं की शरीर क्रिया पर किताब लिखी जा चुकी है तब कवि के सम्बन्ध में भी वही चेष्टा क्यों न की जाय। कविता और सङ्गीत मनुष्य को क्यों प्रिय है, इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। भाव को छन्दों की शृङ्खला में जकड कर प्रकाशित करना मनुष्य के स्वभाव म है। छन्दों की ओर उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का अनुसन्धान करना अनुचित न होगा। विचार करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि मनुष्य की यह प्रवृत्ति ससार

क नियम के प्रतिकूल नहीं है। सङ्गीत में जिसे ताल कहते हैं वह विश्व की सभी शक्तियों की अभिव्यक्ति में देखा जाता है। जीवधारी के हृत्पिण्ड की तरह प्रकृति का विशालहृत्पिण्ड ताल ताल पर स्पन्दित होता है। लेखक ने प्रश्न किया था कि क्या श्वास-गति के साथ छन्द का किसी प्रकार सम्बन्ध स्थापित करना बिलकुल असम्भव है। षण्मात्रिक छन्दों के साथ तो श्वास-गति का सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा।

मेरी हैलक ग्रीनवाल ने लिखा था कि कवि की किसी भी रचना का सङ्गीत रूप से विश्लेषण करने पर देखा जाता है कि उसमें राग-रागिनी, ताल, लय, स्वर का उत्थान पतन, सभी विद्यमान रहता है। यह बात सिर्फ गीति-कविता में नहीं है, किन्तु सभी कविताओं में है। कविता का यह स्वरूप कभी कभी तो इतना अलक्षित रहता है कि वह किसी प्रकार प्रकट नहीं किया जा सकता, केवल उसका अनुभव किया जा सकता है।

लेखिका ने यह बतलाने की चेष्टा की थी कि कविता में छन्दों का निर्देश नाड़ी की गति करती है। उनके कहने का अभिप्राय यह है कि यह विश्व सजीव है, उसका भी हृत्पिण्ड है जिसके स्पन्दन के ताल से समस्त प्रकृति ताल मिलाती है। भौंरों का गुञ्जार, मयूरों का नृत्य, व्याघ्र की छलाँग, इन सभी क्रियाओं में विश्व के उस ताल की रक्षा की जाती है। मस्तिष्क की नसों पर हृत्स्पन्दन का जो प्रभाव पड़ता है उसीसे भाव तरङ्गों का उत्थान पतन होता है। लेखिका के कथनानुसार अँगरेजी के सभी दीर्घ छन्द और अधिकांश छोटे छन्द भी हृत्पिण्ड की 'लप, डप, लप, डप' ध्वनि के ताल पर बनाये गये हैं।

एक जर्मन विद्वान् ने एक बार यह प्रश्न किया था कि शराब अर्थात् किसी पेय पदार्थ पर जितनी कवितायें लिखी गई हैं उतनी

किसी खाद्य पदार्थ पर नहीं लिखी गई हैं। वैदिक काल में भी सोमरस पर कवित्व-पूर्ण स्तोत्र हैं। पर किसी मिष्टान्न की ऐसी प्रशंसा नहीं की गई है। अमृत भी तो पेय पदार्थ है, खाद्य नहीं इसका क्या कारण है? श्रीमती मीनवाल का कथन है कि पीने के समय हृत्पिण्ड में जो उत्तेजना होती है वह खाने के समय में नहीं होती है। इसीसे कविता में पेय पदार्थ की इतनी महिमा है।

हृदय के स्पन्दन, श्वास की गति अथवा नाड़ी की चाल से छन्द का निगूढ़ सम्बन्ध है, यह शरीर शास्त्र वेत्ता ही बतला सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कवि भावावेश में आकर कविता की रचना करता है और उस समय उसके शरीर की एक विशेष अवस्था अवश्य हो जाती है। सब भावों की अभिव्यक्ति के लिए सभी छन्द उपयुक्त नहीं होते। कुछ छन्दों में विषाद व्यक्त होता है और कुछ से हर्ष। विषाद और हर्ष का प्रभाव हृदय पर भी पड़ता है। अतएव यह अनुमान करना सर्वथा उचित है कि हृदय के स्पन्दन के साथ छन्दों का कुछ सम्बन्ध अवश्य है। इसी से कान्तजी के छन्द विन्यास में अपूर्वता आ गई है। आज साहित्य-सदन में वे अपनी एक नवीन रचना का पाठ करेंगे। चलिए, मैं उनसे आपको परिचित करा दूँ।

उसी दिन सुशीला ने पहले-पहल कान्तजी का दर्शन किया और उनकी कविता सुनी। पण्डित देवव्रत उनकी कविता की व्याख्या करते जाते थे। उनकी व्याख्या से सुशीला को कविता की यथार्थ महिमा का ज्ञान हुआ। पण्डितजी ने कहा—यह अभिनव जगत की सृष्टि है। यहाँ आप के प्राचीन साहित्य का रसोन्माद नहीं है। यहाँ है मूक आह्वान, अतृप्त आकांक्षा, अनन्त अभिसार। पथ अज्ञेय है, नायिका अज्ञात है, नायक अपरिचित है। केवल ज्ञात है उनकी लीला-भूमि। वही हमारा संसार है।

हम कौन हैं, कहाँ जा रहे हैं, यह कौन जानता है। उसी अज्ञात लोक के अज्ञात प्रियतम का नीरव निमन्त्रण पाकर भी हम आज क्या किसी के कृत्रिम बन्धनों से बद्ध रहेंगे ! नहीं, आज हम सब शृङ्खलायें तोड़ देंगे। आज हमारी कल्पना निर्बाध होगी, भाषा स्वतन्त्र, छन्द स्वच्छन्द ! तभी संसार का कल्याण होगा।

उसी दिन से सुशीला कान्तजी की पद्यावली की अनुरागिनी हो गई।

(३)

८ अक्टूबर की बात है। सुशीला ड्राइङ्ग रूम में कान्तजी की पद्यावली पढ़ रही थी और हरिकिशोर बाबू मुँह में चुरुट दबाये टाइम्स आव इण्डिया के पन्ने उलट रहे थे। कमरे में निस्तब्धता छाई हुई थी। इतने में नौकर ने आकर सुशीला के हाथ में एक कार्ड दिया। सुशीला कार्ड पढ़कर मुस्कराने लगी। हरि बाबू ने पूछा—"कौन है ?"

सुशीला—रामनरेश जोशी।

हरिकिशोर—जोशी ? ये बनारस के ज्योतिषी तो नहीं हैं जो लोगों का हाथ देखकर नाम बता सकते हैं और पैर देख कर सिर की बातें जान सकते हैं ? सचमुच, उनमें विलक्षण शक्ति है।

सुशीला—अरे, तुम जोशी जी को नहीं जानते। आज-कल उनसे बढ़कर चित्रकार इस प्रान्त में कोई नहीं है। उनके चित्रों में भाव रहता है, रङ्ग नहीं, शक्ति रहती है, आकृति नहीं। उस दिन तो मैंने उनका एक चित्र तुम्हें दिखलाया था। चित्र का नाम था प्रतिध्वनि।

हरिकिशोर—प्रतिध्वनि। वही तो नहीं जिसमें एक सन्यासी हाथ में अपना मुँह छिपाये खड़ा है और पास ही एक स्त्री

गोद में एक बच्चा लिये खड़ी है। सचमुच वह सुन्दर चित्र था।

सुशीला—अरे, वह तो राजा रविवर्मा का शकुन्तला जन्म है। मैं तुम्हें कहाँ तक समझाऊँ। रविवर्मा के चित्र में है क्या, सिर्फ़ रङ्ग और रूप। पर जोशी जी के चित्र में है भाव और शक्ति। तुम तो बिलकुल साहित्य-सङ्गीत कला विहीन हो। ख़ैर, अब चुप रहो, जोशी जी आ रहे हैं।

थोड़ी देर में जोशी जी भीतर आये। उनका स्थूल शरीर था। कृष्ण वर्ण था, कुञ्चित केश और दीर्घ ललाट। सुशीला ने उठ कर उनकी अभ्यर्थना की और हँस कर कहा, "अभी हम लोग आपकी चित्रकला पर ही विवाद कर रहे थे। इनका कहना था कि आपका स्थान टगोर से भी ऊँचा है। मैं कहती थी कि तुलना हो ही नहीं सकती।

जोशी जी एक कुर्सी पर बैठ कर बोले—यह आपही की कृपा है। आप के समान कला-कोविदों के प्रोत्साहन से मैं कुछ कर सका हूँ। आपने 'प्रतिध्वनि' में देखा होगा कि मैंने नायिका को वक्र अङ्कित किया है।

हरिकिशोर बाबू तपाक से बोल उठे—सचमुच आपने कमाल किया है। हाथ, पैर, आँख, कान और उदर को भी वक्र बना कर आपने मनुष्य स्वभाव की वक्रता प्रत्यक्ष कर दी है।

जोशी जी ने विनम्र भाव से नतमस्तक होकर कहा—मैं आपका चिर-कृतज्ञ रहूँगा। आपने सचमुच मेरे अन्तर्गत भाव को जान लिया। पर मैंने अब अपना आदर्श बदल दिया है।

सुशीला ने जरा चकित होकर पूछा—क्यों?

जोशी—कान्तजी को आप जानती होंगी। देखता हूँ, आप भी उनकी मधुर कोमल-कान्त पदावली पर अनुरक्त हैं। मैंने अब अपना आदर्श उनके भावानुकूल बनाया है। उनका कथन है

कि प्रकृति अनन्त और अज्ञेय है, यह कहना भ्रम है। निखिल विश्व में जो नीरव कोलाहल उद्गत हो रहा है वह मनुष्य की हृत्तन्त्री पर आघात करता है और तब ज्ञेयाज्ञेय और व्यक्ताव्यक्त में भेद नहीं रहता। मैंने उन्हीं की एक कविता के आधार पर यह चित्र बनाया है। इसका नाम है छाया। आप देखिएगा, मैं अभी इसे खोलता हूँ, इसमें अस्पष्ट भी किस तरह स्पष्ट हुआ है। विरोधाभास है। यह कला की अन्तिम सीमा है।

सुशीला मुग्ध हो गई। हरिकिशोर भी चुप हो गये। तब जोशीजी ने अपना चित्रपट खोला और सुशीला के हाथ में दिया। सुशीला औत्सुक्यपूर्ण नेत्रों से देखने लगी। बढ़िया फ्रेम से जड़ा हुआ एक बढ़िया आर्ट-पेपर था, बिलकुल स्वच्छ, स्याही का एक धब्बा भी नहीं। सिर्फ नीचे लिखा हुआ था "छाया"। सुशीला कोरा कागज़ देख कर भौंचक हो गई। क्या कहे, उसे कुछ भी न सूझा। पर हरिकिशोर ने जोशी का हाथ पकड़ कर कहा—"वाह, वाह! क्या छाया है। कमाल किया आपने। यह तो निर्मल ब्रह्म की विशद छाया है। बिलकुल स्वच्छ! इन चर्म चक्षुओं से भला ब्रह्म का दिव्यदर्शन कैसे हो सकता है? वाह! वाह! क्या चमत्कार है! आपने इस चित्र के अङ्कित करने में कितना समय लगाया होगा।

जोशी—तीन रोज तक बिना अन्न जल ग्रहण किये मैं इस काम में लगा रहा। मैं चाहता था कि अनन्त की अस्पष्टता स्पष्ट हो जाय। अन्त में मेरा परिश्रम सार्थक हुआ।

हरिकिशोर—धन्य! धन्य! इसे हम लोगों का सौभाग्य कहना चाहिए कि तीन दिन तक निराहार रह कर भी आपके शरीर का वजन नहीं घटा।

इतने में नौकर ने आकर फिर एक कार्ड दिया। सुशीला ने पढ़कर कहा, "कवि-सम्राट्‌जी आये हैं।" थोड़ी देर में कवि सम्राट्‌जी ने भी ड्राइङ्ग-रूम में प्रवेश किया। सब लोगों ने उठ कर उनकी अभ्यर्थना की। कवि-सम्राट्‌जी कृश-शरीर और गौरवर्ण थे। सुदीर्घ और चिक्कण केश पीठ पर लहरा रहे थे। रेशमी कुरता पहने थे। पैरों में राष्ट्रीय पादुका शोभा दे रही थी।

सुशीला ने कहा—अभी हम लोग आप की ही चर्चा कर रहे थे।

कवि सम्राट्‌जी ने जलद-गम्भीर स्वर से कहा—आपका अनुग्रह है।

जोशी जी ने कहा—मैंने यह छाया चित्र आपकी सेवा में भेजा था।

कवि-सम्राट्—दिव्य है, अतुल है। मैं तो कृतार्थ हो गया। मैंने उसीके आधार पर एक दूसरी कविता लिखी है। उसे श्रीमती जी की सेवा में अर्पण करने के लिए लाया हूँ।

सुशीला ने प्रसन्न होकर कहा—यह आपकी दया है। मैं तो आपकी शिष्या हूँ।

कवि-सम्राट्‌जी ने जेब से एक कागज निकाल कर दिया। सुशीला ने देखा, वह बिलकुल कोरा कागज था। सुशीला घबरा कर अपने पति की ओर देखने लगी।

हरिकिशोर बाबू बोले—वाह! यह तो वाणी की नीरवता है, निस्तब्धता का उच्छ्वास है, प्रतिभा का विलास है और अनन्त का विकास है।

तब सुशीला ने भी साहस करके कहा—"दिव्य है।"

कवि सम्राट्‌जी बोले—हिन्दी में अभी कुछ है ही नहीं। छायावाद का प्रचार करना मेरा कर्तव्य है। हिन्दी में छायावाद

के एक आचार्य ने कहा था कि छायावाद का प्रधान गुण है अस्पष्टता। भाव इतने अस्पष्ट हो जाँय कि ये कल्पना के अनन्त गर्भ में लीन हो जॉय। मेरी यह सम्मति है कि शब्द अक्षरों से बनते हैं और जो अक्षर, अविनाशी है वह तो अज्ञेय है, अनन्त है। अतएव हमें भाषा को वह रूप देना चाहिए जिससे वह नीरव हो जाय। वह कर्ण-श्रुत न होकर हृदय-गम्य हो, इन्द्रिय गोचर न होकर आत्मा से ग्राह्य हो। इसी अभिप्राय से मैंने यह कविता लिखी है।

सब लोगों ने एक स्वर से कवि सम्राट्‌जी की प्रशंसा की। ८ बजे रात को कवि सम्राट् और चित्रकार विदा हुए।

९ अक्टूबर को हिन्दी जगत में छायावाद का प्राधान्य हुआ, पर आश्चर्य की बात यह है कि उस दिन से किसी भी सभा समाज में लोगों ने सुशीला को नहीं देखा।

२—अदृष्ट-वाद



मैं अबुल हसन के साथ घर आ रहा था। सन्ध्या हो गई थी। रास्ते में मैंने देखा कि एक टूटे फूटे मकान में एक प्रदीप जल रहा है और एक स्त्री बैठी हुई सड़क की ओर ताक रही है। मुझे ऐसा जान पड़ा कि आशा की क्षीण आलोकरेखा के समान क्षुद्र दीप की वह मन्द द्युति उस अन्धकारमय गृह को प्रभा मय कर रही है। मैंने अपने साथी से पूछा—इसमें भी कोई रहता है क्या ? वह चौंक कर कहने लगा—नहीं, इसमें अब कोई नहीं रहता। सिर्फ रात भर दिया जलता रहता है। आपको मैं इसकी कथा सुनाता हूँ। यह मकान अहमद का था। आप अदृष्ट को मानते हैं ? अहमद का जीवन भाग्य-चक्र की ही कथा है। सुनिएगा ?

वह कहने लगा और मैं चुपचाप सुनने लगा—

(१)

मनुष्य समझता है कि वह जो कुछ करता है अपनी इच्छा से करता है। परन्तु कौन कह सकता है कि उसकी इच्छा किसी अदृष्ट शक्ति की प्रेरणा नहीं है। हम वर्तमान से ही सन्तुष्ट रहते हैं। परन्तु वर्तमान में ही भविष्य का बीज छिपा रहता है।

के एक आचार्य ने कहा था कि छायावाद का प्रधान गुण है अस्पष्टता। भाव इतने अस्पष्ट हो जाँय कि वे कल्पना के अनन्त गर्भ में लीन हो जाँय। मेरी यह सम्मति है कि शब्द अक्षरों से बनते हैं और जो अक्षर, अविनाशी है वह तो अज्ञेय है, अनन्त है। अतएव हमें भाषा को वह रूप देना चाहिए जिससे वह नीरव हो जाय। वह कर्णश्रुत न होकर हृदय-गम्य हो, इन्द्रिय गोचर न होकर आत्मा से ग्राह्य हो। इसी अभिप्राय से मैंने यह कविता लिखी है।

सब लोगों ने एक स्वर से कवि सम्राट्‌जी की प्रशंसा की। ८ बजे रात को कवि सम्राट् और चित्रकार विदा हुए।

९ अक्टूबर को हिन्दी-जगत में छायावाद का प्राधान्य हुआ, पर आश्चर्य की बात यह है कि उस दिन से किसी भी सभा समाज में लोगों ने सुशीला को नहीं देखा।

युवक था। शरीर बलिष्ठ और कान्तिमान् था। लोग देख कर दङ्ग रह गये। विधवा फूफी के आँसू थमते नहीं थे, उसने बड़े स्नेह से अपने भतीजे को घर में रक्खा।

दूसरे दिन ईद थी। अहमद ईदगाह से घर आ रहा था। अपने घर के पास उसने दो लड़कियों को देखा। दोनों एक ही उम्र की जँचती थीं। एक का गौरवर्ण था और दूसरी कुछ साँवली थी। गौरवर्ण की लड़की बड़ी रूपवती थी। उसके चेहरे से लावण्य टपका पड़ता था। साँवली लड़की उतनी सुन्दर नहीं थी। तो भी उसकी सौम्य-मूर्ति को देखते ही हृदय उसकी ओर आप से आप खिंच जाता था। अहमद को देख कर दोनों लड़कियाँ ठिठक सी गईं। अहमद भी उनका रूप देख कर चुपचाप खड़ा रह गया। थोड़ी देर के बाद साँवली लड़की ने लजाती हुई कहा—मुझे तो पहचानते नहीं होंगे? मैं हमीदा हूँ। यह मेरी छोटी बहन गुलशन है।

अहमद की पूर्व-स्मृति जाग पड़ी। उसने हँस कर कहा—तुम्हीं हमीदा हो। मेरी हमीदा तो जरा सी लड़की थी, जो छिप कर मेरे लिए हुक्का लाती थी और मैं उसे अमरूद देता था। अब तुम अमरूद खाती हो या नहीं?

हमीदा ने भी हँसकर कहा—तुमने तो खरीद कर कभी मुझे अमरूद दिये नहीं।

दोनों हँसने लगे।

अहमद ने पूछा—इधर तुम कहाँ जा रही हो?

हमीदा—तुम्हारे ही घर जा रही हूँ।

तीनों इधर-उधर की बातें करते करते घर आये।

उस दिन रात को अहमद को नींद नहीं आई। बड़ी देर तक उसकी आँखों के सामने हमीदा की सौम्यमूर्ति घूमती रही।

कभी कभी हमारे दैनिक जीवन के साधारण कृत्य का भी परिणाम इतना विलक्षण होता है कि हम उसे देखकर चकित हो जाते हैं। काम कुछ होता है और फल दूसरा होता है। क्या इसे हम अदृष्ट शक्ति का प्रभाव नहीं कहेंगे? जब अहमद ने घर छोड़ा था तब वह नहीं जानता था कि उसे फिर अपना घर देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा। उस समय वह निराश्रय था। पिता की मृत्यु के बाद कुछ दिनों तक तो उसने अपने मामा के घर में पट पाला। पर एक दिन उसे अपने मामा के घर में रहना असह्य हो गया। उसी दिन वह चुपचाप घर से निकल गया। दो चार रोज़ तक लोगों ने उसकी खोज की, पर जब उसका पता न चला तब किसी ने भी उसके लिए खेद प्रकट नहीं किया। उसी गाँव मे उसकी एक विधवा फूफी रहती थी। वह ग़रीब थी, किसी तरह अपना निर्वाह करती थी। वहीं कभी कभी उसकी याद किया करती थी। आठ साल के बाद उसी के नाम से एक चिट्ठी आई। चिट्ठी रंगून से आई थी। विधवा ने उसे दूसरे से पढ़वा कर सुना। मालूम हुआ कि अहमद की चिट्ठी है। यह भी मालूम हुआ कि अहमद अब गरीब नहीं है। उसने अच्छी रक़म पैदा कर ली है और अब वह रंगून से घर लौट कर आ रहा है। अपने भतीजे की श्री-वृद्धि का हाल सुन कर विधवा की आँखों से स्नेह के आँसू झरने लगे। उसने अपने भतीजे की मङ्गल-कामना के लिए दरगाह में जाकर भेंट चढ़ाई। गाँव भर में यह बात फैल गई। सभी लोगों ने अहमद के सौभाग्य से सन्तोष प्रकट किया। इस प्रकार जब गाँव के सभी लोग उत्सुकता से उसकी राह देख रहे थे तब एक दिन अहमद भी आ पहुँचा। जब उसने घर छोड़ा था तब उसकी उम्र सिर्फ १६ वर्ष की थी। इस समय वह २४ वर्ष का

पसीना हो गया। वह सोचने लगा कि गुलशन ने मुझे इस अवस्था में देख कर क्या समझा होगा। थोड़ी देर तक वह इसी चिन्ता में पड़ा रहा। इसके बाद वह घर लौट आया। आज उसकी फ़ूफ़ी ने हमीदा के विषय म अनेक बातें कहीं, पर अन्य-मनस्क होने से वह उन बातों को अच्छी तरह सुन भी नहीं सका।

अहमद प्राय प्रति दिन अब्दुल के घर जाता था। अब्दुल और उनकी स्त्री दोनों उससे बड़े खुश थे। पर दो दिन तक वह उनके घर जाने का साहस नहीं कर सका। तीसरे दिन उसे जाना ही पड़ा। वह रास्ते में सोचता जाता था कि गुलशन मुझे देख कर क्या कहेगी। ज्यों ही उसने घर के भीतर पैर रक्खा त्यों ही सबसे पहले गुलशन ही पर उसकी दृष्टि पड़ी। वह दरवाज़े के पास ही खड़ी थी। अहमद उसे देख कर रुक गया। गुलशन ने पास आकर कहा—आज तो तीन दिन के बाद आये हैं? क्या कुछ तबीयत खराब हो गई थी?

अहमद ने धीरे से उत्तर दिया—जी नहीं, मैं एक काम में लगा हुआ था।

गुलशन—घर मे तो अभी कोई नहीं है। हमीदा को लेकर अम्मा मामा के घर गई हैं। अब आती ही होंगी। बाबा इस्पेक्टर से मिलने के लिए गये हैं। आप यहीं बैठिए।

अहमद चुपचाप गलीचे के एक कोने में बैठ गया। परन्तु उसका हृदय धड़क रहा था। एक बार उसने साहस करके सिर उठाया। देखा, गुलशन उसे देख कर हँस रही है। अहमद ने फिर सिर नीचा कर लिया। गुलशन कहने लगी—क्यों साहब, आप इतना शरमाते क्यों हैं?

गुलशन के इतना कहने पर अहमद ने सिर उठा कर ओर देखा। इस बार गुलशन ने सिर नीचा

हमीदा अब्दुल की लड़की थी। अब्दुल गाँव में धनाढ्य आदमी कहा जाता था। हमीदा मातृहीना थी। उसकी मा तभी मर गई थी जब वह साल भर की थी। उसके बाप ने दूसरा विवाह किया था। गुलशन उसकी दूसरी स्त्री की लड़की है। अहमद ने मन ही मन निश्चय किया कि यदि अब्दुल-हुसेन अस्वीकार न करे तो वह हमीदा से विवाह करेगा।

दूसरे दिन फ़फी ने खुद लड़कियों की चर्चा छेड़ दी। बात ही बात में वह समझ गई कि अहमद किसको चाहता है। उसी दिन शाम को वह अब्दुल के घर गई और वहाँ उसने हमीदा से अहमद का विवाह एक प्रकार से पक्का कर लिया। विवाह का दिन निश्चित नहीं हुआ। अहमद नया मकान बनवा रहा था। इसलिए यह सोचा गया कि मकान बन जाने के बाद किसी दिन विवाह हो जायगा।

एक दिन प्रातःकाल खूब तड़के अहमद पोखरे की ओर घूमने के लिए चला गया। वहाँ उसने गुलशन को किनारे पर बैठे हुए देखा। उस समय सूर्योदय नहीं हुआ था। चारों ओर बिलकुल शान्ति थी। गुलशन भी चुपचाप बैठी पानी की ओर ताक रही थी। अहमद ने गुलशन को कई बार देखा था। पर इस सौन्दर्य की कल्पना तक उसने नहीं की थी। वह बिलकुल विमुग्ध होकर उस अपूर्व रूपराशि को देखने लगा। थोड़ी देर में गुलशन का ध्यान भङ्ग हुआ। उसने लौट कर देखा तो अहमद खड़ा हुआ उसकी ओर सतृष्ण दृष्टि से देख रहा है। क्षण भर के लिए गुलशन का मुख लज्जा से लाल हो गया। इसके बाद वह उठ कर चुपचाप चली गई। अहमद उसको देखता रहा। जब वह दृष्टि के बाहर होगई तब अहमद की बुद्धि लौट आई। लज्जा से उसका शरीर पसीना

सीना हो गया। वह सोचने लगा कि गुलशान ने मुझे इस अवस्था में देख कर क्या समझा होगा। थोड़ी देर तक वह इसी चिन्ता में पड़ा रहा। इसके बाद वह घर लौट आया। आज उसकी फूफी ने हमीदा के विषय में अनेक बातें कहीं, पर अन्य-मनस्क होने से वह उन बातों को अच्छी तरह सुन भी नहीं सका।

अहमद प्राय प्रति दिन अब्दुल के घर जाता था। अब्दुल और उनकी स्त्री दोनों उससे बड़े खुश थे। पर दो दिन तक वह उनके घर जाने का साहस नहीं कर सका। तीसरे दिन उसे जाना ही पड़ा। वह रास्ते में सोचता जाता था कि गुलशान मुझे देख कर क्या कहेगी। ज्यों ही उसने घर के भीतर पैर रक्खा त्यों ही सबसे पहले गुलशान ही पर उसकी दृष्टि पड़ी। वह दरवाजे के पास ही खड़ी थी। अहमद उसे देख कर रुक गया। गुलशान ने पास आकर कहा—आज तो तीन दिन के बाद आये हैं ? क्या कुछ तबीयत खराब हो गई थी ?

अहमद ने धीरे से उत्तर दिया—जी नहीं, मैं एक काम में लगा हुआ था।

गुलशान—घर में तो अभी कोई नहीं है। हमीदा को लेकर अम्मा मामा के घर गई हैं। अब आती ही होंगी। बाबा इन्स्पेक्टर से मिलने के लिए गये हैं। आप यहीं बैठिए।

अहमद चुपचाप गलीचे के एक कोने में बैठ गया। परन्तु उसका हृदय धड़क रहा था। एक बार उसने साहस करके सि[र] उठाया। देखा, गुलशान उसे देख कर हँस रही है। अहमद [ने] फिर सिर नीचा कर लिया। गुलशान कहने लगी—क्यों सा[हब] आप इतना शरमाते क्यों हैं ?

गुलशान के इतना कहने पर अहमद ने सिर उठा कर उ[स] ओर देखा। इस बार गुलशान ने सिर नीचा कर लिया। अ[...]

कुछ देर तक उसकी ओर चुपचाप निर्निमेष दृष्टि से देखता रहा। फिर उसने धीरे से कहा—गुलशन, मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ। पर क्या तुम मुझे क्षमा करोगी? मैं नहीं कह सकता कि मुझे क्या हो गया है। पर अब तुम्हारे बिना—

अहमद आगे कुछ नहीं कह सका। किसी के आने की आहट मालूम हुई। वह चुपचाप जहाँ का तहाँ बैठ गया। गुलशन भी कुछ शङ्कित सी खड़ी रही। इसके बाद वह कमरे के बाहर चली आई।

उसी दिन रात को अहमद ने अपनी फूफी से अपनी इच्छा स्पष्ट कह दी। फूफी अवाक् हो गई। उसने कहा—बेटा, मैंने तो यह समझा था कि तुम हमीदा से विवाह करना चाहते हो। इसी से मैंने उसी से तुम्हारा विवाह ठीक किया था। मुझसे इतनी भूल ज़रूर हुई कि मैंने तुमसे साफ साफ पूछा नहीं। पर बेटा, हमीदा बड़ी सुशील लड़की है, यों तो गुलशन भी अच्छी है।

अहमद ने कुछ उत्तर नहीं दिया। पर उस दिन से वह विषण्ण सा रहने लगा। आखिर एक दिन उसकी फूफी ने कहा—बेटा, मैं जाती हूँ, जरा गुलशन की मा से बात चीत कर आऊँ।

अहमद बड़ी व्यग्रता से अपनी फूफी की राह देखने लगा। जब वह लौट कर आई तब सङ्कोच के कारण अहमद ने कुछ पूछा नहीं, पर उसकी फूफी ने खुद ही कहा—बेटा, अगले जेठ में गुलशन के साथ तुम्हारा विवाह पक्का है। आज तुम्हारे भावी ससुर ने तुमको बुलाया है। और भी लोग आवेंगे।

उस दिन अहमद ९ बजे रात को लौटा। चाँदनी छिटकी हुई थी। उसका चित्त भी प्रफुल्लित था। वह नदी के किनारे टह लता टहलता कब्रिस्तान की ओर निकल पड़ा। जब वह क़ब्रि-

तान के पास पहुँचा तब उसे वहाँ कोई स्त्री सी दिखलाई पडी।
उसको कुछ आश्चर्य हुआ कि यहाँ इतनी रात को कौन स्त्री
आई है। वह चुपचाप एक पेड़ की आड में खड़ा हो गया। थोडी
देर में चन्द्रमा का उज्वल प्रकाश मेत्र से निर्मुक्त हो कब्रिस्तान
पर अच्छी तरह फैल गया। अहमद ने देखा कि हमीदा अपनी
मा की कब्र पर सिर नीचा किये बैठी है। अहमद के हृदय में
चोट सी लगी। थोड़ी देर में हमीदा कब्रिस्तान के बाहर
निकली। उसका मुख बिलकुल शान्त था, न उसमें हर्ष था और न
विषाद। उसके बाहर निकलते ही अहमद से न रह गया। उसने
कम्पित स्वर से कहा—हमीदा।

हमीदा पहले चौंक पडी। परन्तु ज्यों ही उसने अहमद को
देखा, त्यों ही वह शान्त हो गई। उसने बडे मीठे स्वर मे कहा—
कौन है भैया अहमद।

अहमद ने कहा—हाँ, हमीदा, मैं ही हूँ। तुम यहाँ कैसे आई?

हमीदा ने शान्त स्वर से उत्तर दिया—मैं अम्मा की कब्र
पर फूल चढाने आई थी।

अहमद ने आगे बढ कर गद्गद कण्ठ से कहा—हमीदा
मैंने यदि तुम्हारे हृदय को किसी तरह की चोट पहुँचाई है
मुझे क्षमा करो। मैं सच कहता हूँ, मुझसे बढकर नीच दूस
कोई नहीं होगा।

हमीदा ने प्रेम से कहा—भाई मेरे, आज से तुम मेरे
हुए हो और मैं तुम्हारी बहन हुई हूँ। भला, भाई क्या बहन
कोई अपराध करेगा और उससे क्षमा माँगेगा?

अहमद ने कहा—तुम स्त्री नहीं, देवी हो।

जिस दिन गुलशन के साथ अहमद का विवाह हुआ
दिन हमीदा का विवाह विलासपुर के धनी जमीदार

के साथ निश्चित हुआ। थोड़े दिनों के बाद हमीदा का विवाह होगया और वह बिलासपुर चली गई।

कहते हैं कि एक के जीवन के साथ दूसरे का जीवन सम्बद्ध रहता है। स्वयं कुछ न कर के भी कोई एक किसी दूसरे के भाग्य का विधाता होता है। यदि यह बात न होती तो हमीदा का विवाह अहमद से ही क्यों न हुआ।

(२)

अहमद के कुछ दिन तो गाँव में कट गये। पर अधिक समय तक वह वहाँ नहीं रह सका। इसी समय उसके एक परिचित व्यापारी ने उसे अपनी दूकान में एक जगह देनी चाही। अहमद ने उसको स्वीकार कर लिया। भाग्यवश उसको बिलासपुर में जगह मिली। वहीं वह अपनी स्त्री को लेकर रहने लगा।

गुलशन को अपने सौभाग्य का बड़ा गर्व था। वह अपने पति की प्रियतमा थी। उसने कभी किसी प्रकार के अभाव का अनुभव नहीं किया। जब वह बिलासपुर में आकर रहने लगी तब वह धनिकों का वैभव देखने लगी। उसने वैसा ऐश्वर्य कभी नहीं देखा था। इससे वह पहले पहल चकित सी हो गई। परन्तु उसने उस ऐश्वर्य की कामना कभी नहीं की। उसे अपने पति के स्नेह धन के सामने बिलासपुर की समस्त सम्पत्ति तुच्छ जान पड़ती थी।

बिलासपुर में कुछ महीने रहने के बाद एक दिन उसने हमीदा के घर जाना चाहा। जब से वह आई थी तब से उसने कई बार हमीदा से भेंट करने की इच्छा की। परन्तु उसको मौका कभी नहीं मिला। हमीदा के पति नजीर प्राय: अपने गाँव में ही रहते थे। उसकी दूकान का काम नौकर देखते थे। साल दो ही चार महीने वह बिलासपुर में रहता था। जब से गुल-

[गुलश]न विलासपुर आई थी तब से हमीदा एक दिन के लिए भी [फिर] निजामपुर नहीं आ सकी। आखिर एक दिन वह आई। गुलशन ने बड़े प्रेम से उसका स्वागत किया। थोड़ी देर बैठने के बाद उसने गुलशन को अपने घर चलने के लिए कहा। गुलशन को कोई काम तो था नहीं। वह हमीदा के साथ चलने के लिए राजी हो गई।

बाहर आने पर उसने देखा कि एक सुन्दर फिटन गाड़ी खड़ी है। पूछने से मालूम हुआ कि वह गाड़ी हमीदा की ही है। उस समय न जाने क्यों गुलशन के हृदय में कुछ चोट सी लगी। जब वह हमीदा के घर पहुँची तब उसने देखा कि मकान छोटा [सा] है, परन्तु बहुत सुन्दर बना है। घर में असबाब भी काफी [है]। उनको देखने से यह साफ मालूम पड़ता था कि इस घर का मालिक श्री-सम्पन्न है। उन सब चीजों को देखकर गुलशन के हृदय में कितने ही प्रकार के भाव उठने लगे। वह इतनी नीच नहीं थी कि वह हमीदा से ईर्ष्या करे। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वह अपने घर को हमीदा के घर से किसी प्रकार कम नहीं देखना चाहती थी। आजतक वह कभी अपनी स्थिति से असन्तुष्ट नहीं हुई थी। परन्तु अब उसके हृदय में असन्तोष का भाव फैलने लगा। उसने मन में प्रतिज्ञा की कि चाहे जो हो, मैं भी एक फिटन गाड़ी रक्खूँगी और अपने घर को इसी तरह सजाऊँगी। जब वह घर लौटने लगी तब रास्ते में वह इसी उधेड़बुन में पड़ी रही।

जब अहमद काम से लौटा तब गुलशन ने उससे हमीदा के आने की बात कही। बात ही बात में उसने पूछा—भला, यह तो बताओ, तुमने कभी हमीदा का घर देखा है।

अहमद—देखा क्यों नहीं है? मैं तो वहाँ कई बार गया हूँ। वहाँ की एक एक चीज पहचानता हूँ।

गुलशन—उसके लिए उन्होंने कितना खर्च किया होगा ?

अहमद—यही दस-बारह हजार लगे होंगे।

गुलशन—दस बारह हज़ार! मेरे पास तो सब मिला कर तीन हज़ार से अधिक की सम्पत्ति न होगी।

अहमद ने हँस कर पूछा—क्या तुम्हारी भी इच्छा वैसा ही घर बनवाने और वैसा ही असबाब खरीदने की है।

गुलशन ने अहमद का हाथ पकड़ कहा—सच कहती हूँ। जब से मैंने उसका घर देखा है तब से मेरी यही लालसा है कि मैं भी उसी तरह क्यों न रहूँ जिस तरह वह रहती है।

अहमद—गुलशन, तुम तो अपने रूप से ही उसके सारे घर की चमक को दूर कर सकती हो। भला, तुम्हें यह चाह क्यों हुई ?

गुलशन—तुम तो हँसी करते हो। पर यदि मेरे पास वैसा ही सामान हो जाय तो मेरी सारी लालसायें पूरी हो जायँ।

अहमद—अगर मैं तुम्हारी लालसायें पूरी कर दूँ तो ?

गुलशन—सच कहते हो ? झूठी बात। तुम इतना रुपया कहाँ पाओगे ?

अहमद—रुपया पाना कठिन जरूर है, पर असम्भव नहीं है। कोशिश करने से दस हजार रुपया इकट्ठा करना बड़ी मुश्किल बात नहीं है।

गुलशन—सच ! अच्छा कितने दिनों में तुम दस हजार रुपया पैदा कर लोगे।

अहमद—अगर ख़ुदा की मर्जी होगी तो एक ही साल के भीतर मैं दस हजार ला दूँगा। पर एक बात है।

गुलशन—वह क्या ?

अहमद—मुझे रंगून जाना पड़ेगा।

गुलशन—रंगून ! सो तो होने का नहीं। मैं तो तुम्हें रंगून न जाने दूँगी। जीवन भर ऐसी ही बनी रहूँ, यह मुझे स्वीकार है। पर तुम्हें आँखों के ओट न करूँगी।

अहमद—क्यों, मैं तो रंगून हो आया हूँ। वहाँ छ साल तक रह भी चुका हूँ। वहाँ क्या डर है ?

गुलशन—नहीं नहीं। मुझे कुछ नहीं चाहिए। तुम यहीं रहो।

अहमद—सुनो, गुलशन ! आज तुमने मेरी आँखें खोल दीं। मुझे भी अब कुछ पैदा करना चाहिए। सिर्फ कमाने-खाने से काम नहीं चलेगा। इसलिए अगर तुम इजाजत दो तो मैं सचमुच रंगून जाऊँगा। वहाँ मेरे लिए अनेक सुविधायें हैं। एक साल की बात है। उसके बाद तुम्हें किसी प्रकार की कमी नहीं रहेगी।

गुलशन रोने लगी। पर बहुत समझाने-बुझाने पर वह राजी हो गई।

दूसरे दिन अहमद अपने जाने का बन्दोबस्त करने लगा। भाग्य उसके अनुकूल था। थोड़े ही दिनों में उसे एक अच्छा मौका मिल गया। अपने मालिक की सहायता से उसने कलकत्ते के एक व्यापारी से बात चीत करके सब ठीक कर लिया। निश्चय यह हुआ कि पन्द्रह दिन के बाद अहमद रंगून के लिए रवाना हो जायगा। जब वह यह समाचार लेकर घर लौटा तब वह यह समझता था कि गुलशन यह सुन कर खूब खुश होगी। पर ज्योंही उसने गुलशन को सब हाल सुनाया, त्योंही वह फूट फूट कर रोने लगी। अहमद ने उसे खूब समझाया। ये पन्द्रह दिन गुलशन के लिए अच्छे नहीं थे। उसका चेहरा कुम्हला गया। वह शङ्कित भी रहने लगी। अन्त में विदा का दिन आया सजल नेत्रों से उसने पति को विदा दी। उसका दिल टूटा

जाता था। पर किसी तरह वह अपने को सम्हाले रही। ज्योंही अहमद रवाना हुआ, त्योंही वह विस्तर पर लेट कर फूट फूट कर रोने लगी।

हमीदा का विवाह अहमद से क्यों न हुआ, और यदि उससे न हो सका तो विलासपुर के नजीर से ही क्यों हुआ?

(३)

एक वर्ष अधिक नहीं होता।

किसी तरह एक वर्ष व्यतीत हुआ। महीने में दो बार अहमद की चिट्ठी आती थी। उसी से वह सन्तोष कर लेती थी। अन्तिम पत्र में अहमद ने अपने आने की सूचना दी। यह भी लिखा कि उसकी प्रतिज्ञा पूरी हो गई। उसने यथेष्ट सम्पत्ति एकत्र कर ली है। जिस दिन अहमद लौट कर आया उस दिन गुलशन की विचित्र दशा हो रही थी। इधर हर्ष था तो उधर एक वर्ष का छिपा हुआ वियोग-दुख उमड़ पड़ा था। वह हँसती थी और रोती थी। मुख में हँसी थी और नेत्रों में जल।

कुछ ही दिनों में गुलशन की लालसा पूरी हो गई। एक फिटन गाड़ी भी हो गई। अच्छा मकान बन गया। असबाव आ गया। उसने समझा कि यदि उसकी वैसी लालसा न होती तो कदाचित् यह समृद्धि भी हाथ न आती। परन्तु क्या लालसा का अन्त समृद्धि में ही होता है। लालसा सभी करते हैं, परन्तु किसी किसी की लालसा पूरी होती है। क्यों होती है, यह कौन जानता है?

गुलशन का समय सुख से व्यतीत होने लगा। एक वर्ष के बाद उसको एक पुत्र हुआ। पुत्र-जन्म के उत्सव में अहमद ने खूब खर्च किया। हमीदा भी आई। उसको भी एक लड़का था। दोनों बहनें बड़े प्रेम से बातें करती रहीं। बात ही बात में गुलशन ने नजीर का हाल-चाल पूछा। तब उसे मालूम हुआ

कि वह आज-कल किसी चिन्ता में पड़ा हुआ है। सम्भव है कि उसकी सारी सम्पत्ति बिक जाय। अन्त में हमीदा ने कहा—बहन, खुदा मालिक है। जिसने पैदा किया है वही हम लोगों को खाने के लिए भी देगा। यह नहीं कहा जा सकता कि हमीदा का हाल सुन कर गुलशन को हर्ष हुआ। उसको दुख अवश्य हुआ। पर अपनी स्थिति से उसको अधिक सन्तोष हुआ।

इसके बाद हमीदा से गुलशन भेंट न कर सकी। नजीर किसी काम से बाहर चला गया। पर जब वह लौटा तब वह अतुल सम्पत्तिशाली होकर लौटा। हमीदा गुलशन को अपने घर लिवा ले गई थी। वहाँ गुलशन ने जो कुछ देखा उससे उसका सिर घूमने लगा। हमीदा का लड़का राजकुमार की तरह घूम रहा था। उसी की देखरेख के लिए दो नौकर लगे थे। गुलशन अपना सारा दर्प भूल गई। वह चुपचाप घर लौट आई। घर में अहमद ने पूछा—कहो, हमीदा का क्या हाल चाल है।

गुलशन चुप रही। गुलशन को चुप देख कर अहमद ने हँस कर कहा—जान पड़ता है, तुम फिर उसके रोब में आ गई हो। गुलशन, खुदा की जो मर्जी होती है वही होता है।

गुलशन ने कहा—यह सच है। परन्तु मैं यह नहीं सह सकती कि उसका लड़का राजकुमार की तरह घूमे और मेरा बच्चा भिखमङ्गे की तरह उसके सामने खड़ा हो।

इतना कह कर गुलशन रो पड़ी। अहमद चुपचाप कुछ सोचता रहा। कुछ देर के बाद उसने सिर उठा कर कहा—गुलशन, क्या तुम इतना धन चाहती हो जितना किसी के पास कभी न हो।

गुलशन ने पति का हाथ पकड़ कर कहा—मैं कसम खाकर कहती हूँ, मैं किसी से ईर्ष्या नहीं करती। परन्तु मैं कह नहीं

सकती, आज उसके लड़के को राजकुमार की तरह देख कर अपने बच्चे के लिए मुझे तरस आ गया।

अहमद ने उठ कर गुलशान के सिर पर हाथ रक्खा और कहा—गुलशन, इस बार फिर जाऊँगा। कहाँ जाऊँगा, यह मैं तुम्हें नहीं बतलाऊँगा। नहीं, तुम रोको मत। मैं जाऊँगा और तुम्हारे लिए वह सम्पत्ति लाऊँगा जितनी आज तक किसी ने न देखी होगी। पर गुलशन, इस बार मैं यह नहीं कह सकता कि मैं कब लौटूँगा। सम्भव है, दो वर्ष में लौटूँ, सम्भव है चार वर्ष में लौटूँ। पर मैं लौटूँगा ज़रूर, याद रखना।

गुलशन ने उसे रोकने की बहुत कोशिश की, परन्तु वह चला गया।

एक वर्ष व्यतीत हुआ, दूसरा वर्ष बीत गया। अहमद नहीं आया। गुलशन घबराने लगी। तीसरा वर्ष घबराहट में चला गया। अहमद का कुछ पता नहीं चला। गुलशन प्रतिदिन दरगाह जाती, पति की मङ्गल-कामना से कितनी ही भेटें चढ़ाती, फकीरों से दुआ माँगती फिरती। पर चौथा, पाँचवाँ वर्ष भी बीत गया। अहमद का हाल किसी न कुछ नहीं बतलाया। गुलशन पगली सी हो गई।

हमीदा ने नजीर से अहमद का पता लगाने के लिए कहा। नजीर ने बड़ी दौड़-धूप की। एक दिन कलकत्ते में उनसे एक आदमी से भेंट हो गई। उसकी बातों से मालूम हुआ कि वह रंगून में रहता है। नज़ीर ने उससे अहमद का हाल पूछा। उसने कहा—अहमद? वही अहमद तो नहीं जिसका घर बिलासपुर में है।

नजीर का हृदय धड़क उठा। उसने कहा—हाँ साहब, मैं उसी अहमद की बात पूछता हूँ।

वह बोला—कोई सात वर्ष की बात है, अहमद रंगून के लिए जहाज पर चढ़ा। पर वह जहाज़ रास्ते में डूब गया।

इसके बाद हमीदा गुलशन को अपने घर ले गई। पहले तो वह राजी नहीं हुई। वह समझती थी कि वे लोग मुझे बहका कर मेरे पति से अलग रखना चाहते हैं। अन्त में वह किसी तरह राजी हुई। पर रोज सन्ध्या के समय वह अपने घर में आकर दिया जला कर बैठी रहती है। उसे विश्वास था कि उसका पति अवश्य आवेगा। उसकी आशा अनन्त है।

कौन जानता है, इस आशा का अन्त कहाँ होगा? इस आकांक्षा की निवृत्ति कहाँ होगी?

अबुल हुसेन यह कहानी कह कर चुप हो गया। मैंने लौट कर देखा, चारों ओर अंधेरा हो गया था, सिर्फ उसी घर में दीप की क्षीण ज्योति अभी तक झिलमिला रही थी।

३—धर्म-रहस्य



धर्म का रहस्य जानना बड़ा कठिन है। धर्म का पथ तो श्रेयस्कर है। तब उसमें असहिष्णुता क्यों है? हम लोग अन्य धर्मावलम्बियों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते, उनके सम्बन्ध में बुरी बातें ही कहा करते हैं। हिन्दू होने के कारण ऐसे ईसाइयों के प्रति मेरी जरा भी सहानुभूति नहीं थी जो पहले हिन्दू थे और अब ईसाई हो गये हैं। मैं ऐसे लोगों को आचार-भ्रष्ट मानता था। परन्तु एक ही घटना ने मेरी मति बदल दी। वह यों हुई।

कुछ समय पहले की बात है। मैं छुट्टी लेकर घर जा रहा था। जबलपुर के स्टेशन पर अचानक रमाशङ्कर से भेंट होगई। जब मैं जबलपुर के हितकारिणी-हाई स्कूल में मास्टर था तब वह उसी स्कूल में पढ़ता था। उसने तो मुझे पहचान लिया, पर मैं उसे नहीं पहचान सका। जब उसने मेरे पैरों को छूकर अपना परिचय दिया तब मैंने उसको पहचाना। मैंने उससे कहा—भाई, बहुत दिनों के बाद तुम्हें देखा, इसी लिए मैं तुमको पहचान नहीं सका। उस समय तो तुम लड़के थे, अब मुझसे भी चार अङ्गुल ऊँचे बढ़ गये हो। फिर पूरे साहब बन गये हो। तब

मैं भला यह कैसे जान सकता हूँ कि इस सर्ज के सूट के भीतर मेरा रमाशङ्कर छिपा हुआ है। खैर, अपना हाल-चाल कहो।

रमाशङ्कर ने कहा—पण्डितजी, अपना हाल-चाल क्या कहूँ। जब से मैंने कालेज छोड़ा है तब से मैं घूमता ही रहा हूँ। कभी यहाँ, तो कभी वहाँ। अब कुछ दिनों से नागपुर में स्थिर हूँ।

मैं—भाई, गाड़ी आने में अभी देर है। कुछ अपनी ही कहानी सुनाओ, समय तो कटे।

रमाशङ्कर कहने लगा—मेरी कहानी सुनेंगे? पर मैं अपनी कौन सी कहानी सुनाऊँ। अच्छा एक कहानी कहता हूँ। सुनिए।

नागपुर के हिस्लप कालेज में एक लड़का पढ़ता था। उसका नाम था रमेशदत्त। उसे अपनी सच्चरित्रता का बड़ा गर्व था। इसका कारण कदाचित् यह था कि उसके पास दूसरी ऐसी कोई चीज नहीं थी जिसका वह गर्व कर सके। धनी के पुत्र को अपने धन का गर्व होता है। जो बुद्धिमान् होते हैं वे अपनी बुद्धि का गर्व करते हैं। दुर्भाग्य वश रमेशदत्त के पास न ऐसा धन था और न ऐसी बुद्धि जिसका वह गर्व कर सके। इसी लिए वह अपने चरित्र की रक्षा बड़ी सावधानी से करता था। झूठ से उसे घृणा थी। किसी को अपशब्द कहना वह जानता ही न था। दूसरों की सेवा-शुश्रूषा में वह सदा रत रहता था। यदि कोई उसका अपमान करता तो वह ध्यान नहीं देता था। पर यदि कोई उसके सामने किसी दुर्बल पर तो वह तुरन्त ही उससे भिड़ जाता। उसकी देह था कि वह अकेले चार पाँच आदमियों का था। एक बार दो गोरों ने उसके सामने एक

बुरे शब्द कहे। रमेश ने अकेले ही उनको खूब पीटा। आज-कल नवयुवकों में सदाचार की मात्रा कम है। पर वही एक ऐसा लड़का था जिसने कभी किसी के साथ हँसी तक नहीं की। कालेज के कुछ लड़के उसे ढोंगी कहते थे। पर वह किसी की परवाह नहीं करता था। वह जानता था कि उसका चरित्र बिलकुल निर्दोष है, इसी लिए जब वह चलता तब मस्तक को ऊँचा कर चलता। उसने देखा कि समाज में जो लोग बड़े प्रतिष्ठित गिने जाते हैं उनमें अधिकाश चरित्र हीन होते हैं। इसी लिए उसने कभी किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति के आगे अपना मस्तक नत नहीं किया।

वह कहा करता कि धन और विद्या में मुझसे कोई कितना ही बड़ा क्यों न हो, पर मनुष्यत्व की दृष्टि से मैं किसी से कम नहीं हूँ। चरित्र-हीन लोगों की श्रेष्ठता को स्वीकार करना मनुष्यत्व का अनादर करना है। दूसरे लड़के—विशेषकर धनियों के लड़के—उसके इस गर्व को देख नहीं सकते थे। वे लोग सदैव ऐसा अवसर ढूँढते जिससे वह नीचा दिखाया जा सके। परन्तु उन्हें ऐसा अवसर कभी नहीं मिला।

रमेशदत्त ब्राह्मण था, इसलिए वह ब्राह्मणों के मेस में खाता था। एक बार रघुनन्दन शास्त्री नाम के एक पण्डित किसी काम से नागपुर आये। वहाँ एक लड़का उनका रिश्तेदार था। शास्त्री जी उसी लड़के के कमरे में ठहरे। खाने के समय सब लड़के एकत्र हुए। ब्राह्मण रसोइये ने परोसना शुरू किया। बात ही बात में किसी लड़के ने रमेशदत्त से शास्त्रीजी का परिचय कराया। शास्त्रीजी ने पूछा—आपका निवास-स्थान कहाँ है?

रमेशदत्त ने कहा—सागर।

शास्त्री—सागर! क्या आप पण्डित योगेशदत्त को जानते हैं?

रमेश—मैं उन्हीं का पुत्र हूँ।

भोजन परोसा जा चुका था, पर शास्त्रीजी एकाएक आसन छोड कर उठ खडे हुए और कहा—मैं यहाँ नहीं खा सकता।

लड़कों ने पूछा—क्यों ?

पहले तो शास्त्रीजी ने कुछ नहीं कहा, पर जब लड़कों ने बहुत आग्रह किया तब उन्हें विवश होकर कहना पड़ा कि मैं रमेशदत्त के साथ बैठ कर नहीं खा सकता।

रमेशदत्त की आँख लाल हो गईं। उसने कहा—शास्त्रीजी, मुझमें आपने ब्राह्मणत्व का कौन सा लक्षण नहीं पाया है ?

शास्त्री—बेटा, मैं यह बतलाने में असमर्थ हूँ।

रमेशदत्त—शास्त्रीजी, संसार मेरे चरित्र की परीक्षा कर सकता है। यहाँ ऐसे ब्राह्मणों का अभाव नहीं है जिनके कृत्य उन्हें शूद्रों से भी अधिक अधम बना सकते हैं। पर उनके साथ बैठ कर खाने में आपको आपत्ति नहीं है।

शास्त्री—बेटा, जो ब्राह्मण हो वह ब्राह्मणत्व का गर्व करे।

रमेश—तो क्या मैं ब्राह्मण नहीं हूँ ?

शास्त्री—बेटा, मुझे विवश होकर कहना पड़ता है कि चरित्रवान् होने पर भी तुम ब्राह्मण नहीं हो।

रमेश—क्यों ?

शास्त्री—क्या तुम जानते हो कि तुम्हारे समान पुत्र के रहते हुए भी तुम्हारे पिता ने सन्यास क्यों लिया ?

रमेश—नहीं।

शास्त्री—वह इसलिए कि तुम्हारे पिता ही   नहीं समझते। उन्होंने तुम्हें इस योग्य नहीं अन्त्येष्टि क्रिया करने के अधिकारी हो सको।

रमेश का माथा घूम गया.

हुआ। परन्तु आज तक उसने अपनी जिस पवित्रता की रक्षा अमूल्य निधि समझ कर की थी उसी पर आघात हो रहा था। उसने चिल्ला कर कहा—शास्त्रीजी, बतलाइए, मैं क्यों अधिकारी नहीं समझा गया।

शास्त्री—क्योंकि तुम्हारी माता शूद्र कन्या थी।

रमेशदत्त का गर्वान्नत मस्तक नीचा होगया। उसी दिन उसने बोर्डिङ्गहाउस छोड़ दिया। पर उसके हृदय में एक ज्वाला भभक उठी। दिन भर वह शहर में घूमता रहा, परन्तु उसे क्षणभर के लिए भी शान्ति नहीं मिली। शाम होगई। रात होने लगी। एक दूकान के सामने एक बेंच पड़ी थी। वह थक कर उसी पर बैठ गया। थोड़ी देर में एक आदमी ने पूछा—क्या लाऊँ? रमेशदत्त ने कहा—शरबत। वह हँसने लगा। रमेशदत्त को उसकी हँसी पर कुछ आश्चर्य हुआ, परन्तु वह अपनी ही चिन्ता में लीन था। उसने कुछ खयाल न किया। क्षण भर के बाद एक गिलास लाकर उस आदमी ने रमेश के सामने रख दिया। गिलास हाथ में लेते ही रमेश समझ गया कि वह शराब है और वह शराब की दूकान पर बैठा हुआ है। पहले तो उसे घृणा हुई। फिर वह सोचने लगा—ठीक हुआ, भगवान् ने मुझे ठीक रास्ते पर लगा दिया। मुझे अब डर किसका? समाज ने मेरा तिरस्कार किया, मैं क्यो न समाज का तिरस्कार करूँ। समाज की झूठी प्रतिष्ठा के लिए मैं चिन्ता क्यों करूँ। मैं नीच सही, पर संसार में जो लोग ऊँचे कहलाते हैं वे तो मुझसे भी अधम हैं। मैंने अपने चरित्र की रक्षा की, पर उससे लाभ क्या हुआ? चरित्रवान् रहने पर मुझे अपनी माता का कलङ्क सहना पड़ेगा, पर दुश्चरित्र के लिए तो कलङ्क कोई बात ही नहीं। इसके आगे रमेश ने कुछ विचार नहीं किया। उसने एक ही

साँस में गिलास खाली कर दिया, फिर दूसरा गिलास लाने की आज्ञा दी। क्षण भर में शराब के नशे ने उसे दूसरा आदमी बना दिया। मूल्य चुकाने के बाद वह रात भर उसी दूकान में पड़ा रहा। दूसरे दिन से उसका दूसरा जीवन शुरू हुआ।

बोर्डिङ्गहाउस के लड़कों ने सोचा था कि रमेशदत्त शायद कालेज छोड़ कर चला जायगा। परन्तु यह देख कर उन्हें आश्चर्य हुआ कि रमेशदत्त उसी तरह अपना सिर ऊँचा किये हुए कालेज चला आ रहा है। अब उसके चेहरे पर सुशीलता का वह भाव नहीं था और न वह तेज था। परन्तु उसका चेहरा ऐसा भीषण हो रहा था कि किसी को कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी। और दिन वह सबसे पीछे बैठता था, परन्तु आज वह प्रोफेसर के सामने की बेंच पर बैठा। शराब ने, जान पड़ता है, उसकी सोती हुई बुद्धि को जागृत कर दिया, क्योंकि आज उसने प्रोफेसर से ऐसे प्रश्न पूछे कि स्वयं प्रोफेसर चकित हो गया। प्रतिदिन यही हाल होता था। रात भर रमेश शराब के नशे में बेसुध पड़ा रहता और सुबह वह अपना पाठ तैयार कर कालेज में आ जाता। जो विद्यार्थी पहले सबसे अधिक तेज समझे जाते थे उन्हें अब रमेश से अपना पराभव स्वीकार करना पड़ा। जब परीक्षा हुई तब रमेश का नम्बर सबसे ऊँचा रहा।

रमेश को अब न भय था, न चिन्ता थी। वह निश्चिन्त होकर सब काम करता था। उसके पिता ने उसके लिए बैङ्क में अच्छी रकम जमा कर दी थी। परन्तु दो ही वर्षों में वह रकम नष्ट होगई। जब रमेश के पास एक भी पैसा नहीं रहा तब उसने बिना किसी घबराहट के बङ्गाल-बैंक में नौकरी कर ली। अपने काम में वह बड़ा तेज था, इसलिए थोड़े ही दिनों में उसकी अच्छी उन्नति होगई। वह चार सौ रुपये मासिक पदफाने-

हुआ। परन्तु आज तक उसने अपनी जिस पवित्रता की रक्षा अमूल्य निधि समझ कर की थी उसी पर आघात हो रहा था। उसने चिल्ला कर कहा—शास्त्रीजी, बतलाइए, मैं क्यों अधिकारी नहीं समझा गया।

शास्त्री—क्योंकि तुम्हारी माता शूद्र कन्या थी।

रमेशदत्त का गर्वोन्नत मस्तक नीचा होगया। उसी दिन उसने बोर्डिङ्गहाउस छोड़ दिया। पर उसके हृदय में एक ज्वाला भभक उठी। दिन भर वह शहर में घूमता रहा, परन्तु उसे क्षणभर के लिए भी शान्ति नहीं मिली। शाम होगई। रात होने लगी। एक दूकान के सामने एक बेंच पड़ी थी। वह थक कर उसी पर बैठ गया। थोड़ी देर में एक आदमी ने पूछा—क्या लाऊँ? रमेशदत्त ने कहा—शरबत। वह हँसने लगा। रमेशदत्त को उसकी हँसी पर कुछ आश्चर्य हुआ, परन्तु वह अपनी ही चिन्ता में लीन था। उसने कुछ ख़याल न किया। क्षण भर के बाद एक गिलास लाकर उस आदमी ने रमेश के सामने रख दिया। गिलास हाथ में लेते ही रमेश समझ गया कि वह शराब है और वह शराब की दूकान पर बैठा हुआ है। पहले तो उसे घृणा हुई। फिर वह सोचने लगा—ठीक हुआ, भगवान ने मुझे ठीक रास्ते पर लगा दिया। मुझे अब डर किसका? समाज ने मेरा तिरस्कार किया, मैं क्यों न समाज का तिरस्कार करूँ। समाज की झूठी प्रतिष्ठा के लिए मैं चिन्ता क्यों करूँ। मैं नीच सही, पर संसार में जो लोग ऊँचे कहलाते हैं व तो मुझसे भी अधम हैं। मैंने अपने चरित्र की रक्षा की, पर उससे लाभ क्या हुआ? चरित्रवान रहने पर मुझे अपनी माता का कलङ्क सहना पड़ेगा, पर दुश्चरित्र के लिए तो कलङ्क कोई बात ही नहीं। इसके आगे रमेश ने कुछ विचार नहीं किया। उसने एक ही

साँस में गिलास खाली कर दिया, फिर दूसरा गिलास लाने की आज्ञा दी। क्षण भर मे शराब के नशे ने उसे दूसरा आदमी बना दिया। मूल्य चुकाने के बाद वह रात भर उसी दूकान में पड़ा रहा। दूसरे दिन से उसका दूसरा जीवन शुरू हुआ।

बोर्डिङ्गहाउस के लड़कों ने सोचा था कि रमेशदत्त शायद कालेज छोड़ कर चला जायगा। परन्तु यह देख कर उन्हें आश्चर्य हुआ कि रमेशदत्त उसी तरह अपना सिर ऊँचा किये हुए कालेज चला आ रहा है। अब उसके चेहरे पर सुशीलता का वह भाव नहीं था और न वह तेज था। परन्तु उसका चेहरा ऐसा भीषण हो रहा था कि किसी को कुछ कहने की हिम्मत न पड़ी। और दिन वह सबसे पीछे बैठता था, परन्तु आज वह प्रोफेसर के सामने की बेंच पर बैठा। शराब ने, जान पड़ता है, उसकी सोती हुई बुद्धि को जागृत कर दिया, क्योंकि आज उसने प्रोफेसर से ऐसे प्रश्न पूछे कि स्वयं प्रोफेसर चकित हो गया। प्रतिदिन यही हाल होता था। रात भर रमेश शराब के नशे में बेसुध पड़ा रहता और सुबह वह अपना पाठ तैयार कर कालेज में आ जाता। जो विद्यार्थी पहले सबसे अधिक तेज समझे जाते थे उन्हें अब रमेश से अपना पराभव स्वीकार करना पड़ा। जब परीक्षा हुई तब रमेश का नम्बर सबसे ऊँचा रहा।

रमेश को अब न भय था, न चिन्ता थी। वह निश्चिन्त होकर सब काम करता था। उसके पिता ने उसके लिए बैङ्क में अच्छी रकम जमा कर दी थी। परन्तु दो ही वर्षों में वह रकम नष्ट होगई। जब रमेश के पास एक भी पैसा नहीं रहा तब उसने बिना किसी घबराहट के बङ्गाल-बैंक में नौकरी कर ली। अपने काम में वह बड़ा तेज था, इसलिए थोड़े ही दिनों में उसकी अच्छी उन्नति होगई। वह चार सौ रुपये मासिक पटकाने

लगा। परन्तु इसके बाद उसकी शक्ति क्षीण होने लगी। शराब ने धीरे धीरे उसके शरीर को जर्जर कर डाला। चित्त के उन्माद से उसमें जो विलक्षण बुद्धि जागृत हुई थी वह घटने लगी। ज्यों ज्यों वह अपनी क्षीणता का अनुभव करने लगा त्यों त्यों उसने शराब की मात्रा बढ़ाना शुरू किया। परन्तु अत्यधिक मात्रा में शराब पीने पर भी उसे कुछ लाभ नहीं हुआ। अब वह अपना काम अच्छी तरह नहीं कर सकता था। आखिर एक दिन उसकी नौकरी छूट गई।

नौकरी छूट जाने पर रमेशदत्त जबलपुर चला आया। यहाँ उससे एक ईसाई से भेंट हुई। उसका नाम था ए० डी० स्मिथ। उसकी एक शराब की दूकान थी। उसने पचीस रुपये महीने पर रमेश को नौकर रख लिया। रमेश उसी के यहाँ रहता और काम करता। रात में शराब पीकर वह दूकान ही पर पड़ा रहता। यहाँ से उसका तीसरा जीवन आरम्भ हुआ।

ए० डी० स्मिथ के घर में एक लड़की रहती थी। उसका नाम था लोनी। लोनी के मा-बाप मर गये थे। ए० डी स्मिथ से उसका दूर का रिश्ता था। परन्तु जब उसे कहीं आश्रय नहीं मिला तब उसे स्मिथ के ही घर आश्रय लेना पड़ा। लड़की सुन्दरी थी और बड़ी सुशीला थी। स्मिथ के घर के भीतर का सब काम वही सँभालती थी। जब उसे अपने काम से फुरसत होती तब वह अकेली बैठकर किताब पढ़ती। कभी कभी वह बाहर के कमरे में आती थी। रमेश वहाँ सदा शराब में बेसुध पड़ा रहता था। जब वह आती और स्मिथ के विषय में कुछ पूछती तब रमेश लड़खड़ाती हुई आवाज़ से कुछ कहता, पर लोनी के चेहरे पर घृणा का एक ऐसा भाव उदित होता कि रमेश उसके प्रश्नों का उत्तर तक देना भूल जाता। कभी कभी वह

करुणार्द्र दृष्टि से भी रमेश की ओर देखती। तब रमेश के हृदय में एक असह्य वेदना उठती। रमेश लोनी का तिरस्कार और घृणा सह सकता था, पर उसकी दया उसे असह्य थी।

रमेश की अवस्था दिन प्रतिदिन बिगड़ती गई। स्मिथ की दूकान पर दो चार अधगोरे बहुधा आया करते थे। व रमेश को अपने साथ बैठाकर शराब पिलाते और उससे तरह तरह के स्वाँग बनवाते। रमेश उनके मनोविनोद के लिए कभी कुत्ते की बोली बोलता, तो कभी मुर्गे की तरह बाँग देता। कभी वह गदहा बन कर चीं पों करता, तो कभी घोड़ा बन कर हिनहिनाता। सब लोग उसकी नक्ल पर तालियाँ पीटते, पर जब कभी लोनी उधर से निकल पड़ती तब वह घृणा से मुँह फेर लेती। उस समय रमेश के हृदय में भी ग्लानि उत्पन्न होती, परन्तु शराब की लालच से वह फिर नकल करने लगता।

अभी तक लोनी की सुन्दरता की ओर किसी शराबी की दृष्टि आकृष्ट नहीं हुई थी। परन्तु जब होवर्ड नाम का एक अधगोरा दूकान पर आने लगा तब उसने उस पापमण्डली में लोनी को भी शामिल करना चाहा। स्मिथ साहब पर होवर्ड की न जाने कैसी प्रभुता थी कि स्मिथ उसके विरुद्ध एक भी बात कहने का साहस नहीं कर सकता था। लोनी दूकान की ओर योंही कम जाती थी, पर जब से होवर्ड उससे छेड़खानी करने लगा तब से उसने उधर जाना ही बन्द कर दिया।

एक दिन होवर्ड ने सब शराबियों को न्योता दिया। नक्ल करने के लिए रमेश भी बुलाया गया। दूकान से कुछ दूर एक नाला था। उसी के किनारे भोज का प्रबन्ध किया गया। जब सब लोग शराब पी रहे थे तब अभाग्य वश उधर से लोनी निकल पड़ी। वह नहीं जानती थी कि सब शराबी वहाँ जमा हैं। घूमने

के लिए वह बहुधा उधर जाया करती थी। लोनी को देखते ही होवर्ड उठ खड़ा हुआ। लोनी ने उसकी ओर दृष्टिपात तक नहीं किया। वह चुपचाप मुँह फेर कर जाने लगी। इतने में झपट कर होवर्ड ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा—अब कहाँ भागोगी ?

भयभीत मृगी की तरह लोनी ने रक्षा के लिए सब शराबियों की ओर देखा, परन्तु उनमें किसका ऐसा साहस था कि वह होवर्ड का सामना कर सके। एकाएक पूर्व स्मृति की तरह रमेश की आत्मशक्ति कुछ जागृत हुई। वह बाज की तरह होवर्ड पर झपट पड़ा। होवर्ड जानता नहीं था कि उस पर इस तरह आक्रमण होगा। इसलिए वह गिर पड़ा। लोनी भी भाग खड़ी हुई। परन्तु इधर होवर्ड ने रमेश की दुर्दशा कर दी। जब रमेश घर को लौटा तब वह बे दम हो रहा था। वह चुपचाप एक कोने में लेट गया। स्वप्न में उसने देखा कि एक देवी स्वर्ग से उतरी और उसकी देह पर धीरे धीरे हाथ फेर कर चली गई।

दूसरे दिन रमेश ने उठ कर मन ही मन कुछ प्रतिज्ञा की। धीरे धीरे वह शराब की मात्रा घटाने लगा। कोई कुछ जान नहीं सका। प्रतिदिन वह ख़ूब तड़के उठ कर नदी के किनारे जाता और वहाँ दो घण्टे तक चुपचाप बैठा बैठा किसी का ध्यान किया करता। इसके बाद वह दूकान का काम देखता। यद्यपि अब वह शराब कम पीने लगा था, तथापि दूसरे लोगों के सामने वह यही भाव प्रकट करता कि मानो उसने ख़ूब शराब पी हो। होवर्ड की तो वह बड़ी ख़ुशामद करता। होवर्ड जितना ही अधिक उसका अपमान करता उतना ही अधिक वह गिड़गिड़ाता—कहता—साहब, शराब के नशे में ख़याल नहीं रहता। होवर्ड के सामने वह उसी तरह जानवरों की नकल करता,

परन्तु, उसके चेहरे का रङ्ग धीरे धीरे बदलने लगा। किसी शराबी ने उसके इस परिवर्तन को नहीं देखा, पर लोनी ने ताड़ लिया। एक दिन सन्ध्या के समय लोनी से अचानक उसकी भेंट होगई। लोनी ने कहा—रमेश, मैं नहीं कह सकती कि तुमने मेरा कितना उपकार किया है। मुझे अब यह देख कर खुशी होती है कि तुमने अब अपने मनुष्यत्व को पहचाना है।

रमेश ने सिर झुका कर उत्तर दिया—आप क्षमा करें, परन्तु मेरी एक प्रार्थना है। यदि अब फिर कभी आपको किसी की सहायता की आवश्यकता हो तो आप मेरा स्मरण करें। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि अब कोई आपको अपमानित कर सुख से घर नहीं लौटेगा। दो महीने बीत गये। एक दिन रमेश शराबी का स्वाँग बनाये झटमठ बेसुध पड़ा हुआ था। इतने में होवर्ड अपने एक साथी के साथ आया। उसने पहले तो रमेश को एक ठोकर मारी, पर रमेश चुप पड़ा ही रहा। होवर्ड ने कहा—हरामज़ादा बेसुध पड़ा है। अच्छा तो मेरी स्कीम सुनो। लोनी यों हाथ में आने की नहीं है। कल रविवार है। वह चर्च जरूर जायगी। लौटते समय नदी की ओर से आती है। वहीं उसे पकड़ना होगा। हम तुम दोनों चलेंगे। तैयार हो?

उसके साथी ने कहा—बातें तो ठीक हैं, पर स्मिथ ने बखेड़ा उठाया तो?

होवर्ड—स्मिथ भी कोई आदमी है। रुपये उसके हाथ में दो, वह कुछ बोलने का नहीं।

होवर्ड का साथी—अच्छा, तब मैं तैयार हूँ।

थोड़ी देर में स्मिथ आया। तीनों ने मिल कर शराब पी और फिर सब चले गये। रमेश का हृदय धड़कने लगा। वह लोनी के

पास गया, देखा, लोनी उदास बैठी हुई है। रमेश को देख कर उसने पूछा—क्या है ?

रमेश ने जो कुछ सुना था सब कह सुनाया। लोनी ने कहा—यह कोई नई बात नहीं है। मैं इसकी आशङ्का पहले ही से कर रही थी। यह कह कर वह रोने लगी।

रमेश ने लोनी का हाथ पकड़ कर कहा—लोनी, मुझे क्षमा करो, मेरी धृष्टता पर ध्यान मत दो। मैं तो पशु से भी अधम होगया था। तुम्हीं ने मुझे जीवन-दान दिया है। मेरे लिए तुम स्वर्ग की देवी हो। कल मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। कल तुम मेरी शक्ति देख लेना और फिर यदि तुमको मुझ पर विश्वास हो तो मैं आजीवन तुम्हारी रक्षा का भार लेने को तैयार हूँ। तुमने स्मिथ से शायद मेरे जीवन की पाप कथा सुनी होगी। पर मेरे जीवन का जो उज्ज्वल अंश है उसे तुमने नहीं देखा है।

लोनी ने गद्गद् स्वर से कहा—रमेश, मैं तुम पर विश्वास करती हूँ।

दूसरे दिन नदी के किनारे रमेश चुपचाप होवर्ड और उसके साथी की प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देर में लोनी आती हुई दिखलाई पड़ी। ज्योंही वह नदी के किनारे पहुँची त्यों ही अचानक होवर्ड और उसका साथी आ टूटे। होवर्ड ने लोनी को पकड़ने के लिए हाथ बढ़ाया ही था कि किसी ने पीठ से उसको धक्का देकर नीचे गिरा दिया। होवर्ड ने उठ कर देखा तो रमेश। 'यू डॉग' कह कर होवर्ड उसकी ओर झपटा, परन्तु रमेश ने उसको पकड़ कर नीचे धर दबाया। तब उसका साथी रमेश पर झपटा, परन्तु रमेश ने उसको भी नीचे गिरा दिया और दोनों की मरम्मत एक साथ ही की। उस समय रमेश में दैवी शक्ति आगई थी। जब होवर्ड और उसके साथी बेदम हो गये तब

रमेश ने उनसे कहा—यदि फिर कभी तुम्हारी इच्छा मुझसे लड़ने की हो तो मुझसे मिलना। दूसरे दिन लोनी का विवाह रमेश के साथ होगया।

इतना कह कर रमाशङ्कर ने मुझसे पूछा—देखिए, गाड़ी आगई, पर बतलाइए तो सही कैसी कहानी है।

मैंने कहा—कहानी तो अच्छी है, पर मैं तुम्हारा हाल चाल जानना चाहता था, मेरी वह उत्सुकता रह गई।

रमाशङ्कर ने कहा—मैंने ही लोनी से विवाह किया है।

